

तुलसी प्रज्ञा

TULSĪ PRAJÑĀ

वर्ष 29 • अंक 113-114 • जुलाई-दिसम्बर, 2001

Research Quarterly

अनुसंधान त्रैमासिकी



जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं

(मान्य विश्वविद्यालय)

JAIN VISHVA BHARATI INSTITUTE, LADNUN

(DEEMED UNIVERSITY)

तुलसी प्रज्ञा

TULSI PRAJÑĀ

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL.-113-114

JULY-DECEMBER, 2001

Patron

Ms. Sudhamahi Regunathan
Vice-Chancellor

Editor in Hindi Section

Dr. Mumukshu Shanta Jain

English Section

Dr. Jagat Ram Bhattacharya

Editorial-Board

Dr. Mahavir Raj Gelra, Jaipur
Prof. Satyaranjan Banerjee, Calcutta
Dr. R.P. Poddar, Pune
Dr. Gopal Bhardwaj, Jodhpur
Prof. Dayanand Bhargava, Ladnun
Dr. Bachh Raj Dugar, Ladnun
Dr. Hari Shankar Pandey, Ladnun
Dr. J.P.N. Mishra, Ladnun



Publisher :

Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun-341 306

Research Quarterly of Jain Vishva Bharati Institute

VOL. 113-114

JULY-DECEMBER, 2001

Editor in Hindi

Dr. Mumukshu Shanta Jain

Editor in English

Dr. Jagat Ram Bhattacharya

Editorial Office

Tulsi Prajna, Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

Publisher : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

Type Setting : Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University)
Ladnun-341 306 (Rajasthan)

Printed at : Jaipur Printers Pvt. Ltd., Jaipur-302 015 (Rajasthan)

Subscription (Individuals) Annual Rs. 100/-, Three Year 250/-, Life Membership Rs. 1500/- Sub-Institutions/Libraries) Annual Rs. 200/-

The views expressed and facts stated in this journal are those of the writers, the Editors may not agree with them.

अनेकान्त सिद्धान्त और व्यवहार

राष्ट्रीय परिसंवाद में प्रस्तुत शोध-पत्र

1-3 जनवरी, 2001, गंगाशहर (बीकानेर)
इसल

अनुक्रमणिका / Contents

विषय	लेखक	पृष्ठ
1. नये वर्ष पर विश्व के नाम संदेश	आचार्य महाप्रज्ञ	1
2. अनेकान्त की सार्थक प्रस्तुति	मुमुक्षु शान्ता जैन	5
3. अनेकान्तवाद	आचार्य महाप्रज्ञ	8
4. भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकांत	प्रो. सागरमल जैन	15
5. क्या वेदान्त को अनेकान्त किसी अंश में स्वीकार्य हो सकता है?	डॉ. दयानन्द भार्गव	32
6. अनेकान्तवाद - एक विवेचन	प्रो. तुषार कान्ति सरकार	37
7. भगवान महावीर और अनेकान्तवाद	डॉ. अशोक कुमार जैन	39
8. अनेकान्तवाद और उसके प्रयोग	मोहनसिंह भण्डारी	48
9. पारिवारिक शान्ति और अनेकान्त	डॉ. बच्छराज दूगड़	56
10. महावीर का अनेकान्त : सामाजिक विमर्श	शुभू पटवा	65
11. वैचारिक सहिष्णुता का सिद्धान्त : अनेकान्त	डॉ. सुदीप जैन	71
12. वर्तमान समस्याओं के समाधान में अनेकान्त की उपयोगिता	डॉ. हेमलता बोलिया	77
13. शान्त-सहवास में अनेकान्त की भूमिका	साध्वी आरोग्यश्री	83
14. अनेकान्त का सामाजिक पक्ष	श्रीमती रंजना जैन	88
15. अनेकान्त की प्रासंगिकता	सिद्धेश्वर भट्ट	93
14. महावीर का अनेकांत : कुछ पक्ष, कुछ प्रश्न	प्रो. गोपाल भारद्वाज	96
15. लोकार्पण : आवश्यक निर्युक्ति (भाग-1) का		102

Anekānta: Theory and Practice
Research papers presented in National Symposium
Held on 1-3 April, 2001 at Gangashahar (Bikaner)

English Section

Subject	Author	Page
1. Fatless Cream and Decaffeinated Coffee ...	Sudhamahi Regunathan	103
2. Anekānta — A Jaina Contribution to Scholastic Methodology	M.R. Gelra	113
3. Anekānta Metaphysico - Spiritual Perspective	Prof. Kamal Chand Sogani	119
4. Anekāntavada and its statement in Saptabhanginaya	Arun K. Mukherjee	128
5. Uniqueness of Anekāntavāda	H.R. Dasegowda	135
6. The Applied Aspect of Anekāntā Philosophy	Dr. Nemi Chand Jain	138
7. Anekāntvada : Objections raised by Prof. N.K. Devaraja and answers given by Acharya Shri Mahaprajna	Dr. Pradyumna Shah	148
8. Anekānta: Its Relevance to the Modern Times	Dr. Anil Dhar	153

(नव वर्ष के उपलक्ष्य में आचार्यश्री महाप्रज्ञ का विश्व के नाम सन्देश)

हिंसा समाधान नहीं है

नया वर्ष और नया दिन। हम स्थूल दृष्टि से विचार करते हैं तो स्थूल गणना होती है। स्थूल दृष्टि से वर्ष को नया मानते हैं, सूक्ष्म दृष्टि से देखें तो वास्तव में प्रतिपल नया होता है। एक क्षण बीतता है, दूसरा क्षण आता है, वह अपने आप में पूरी तरह नया होता है। बीता हुआ एक मिनट आने वाले मिनट से भिन्न होता है। स्थूल दृष्टि से विचार करते हैं तो नया वर्ष, नया दिन प्रतीत होता है। नए की प्रतीक्षा भी रहती है, नए के प्रति उत्साह भी होता है, नए का स्वागत भी होता है। किन्तु वह कोरा नया ही नहीं आता। वह अपने साथ बहुत सारा अतीत का संग्रह, अतीत का भार लेकर आता है। हमें विवेचन और विश्लेषण करना है कि नया दिन अतीत से क्या-क्या लेकर आया है? कितना तो वह उपयोगी तथ्यों को, स्मृतियों को लेकर आया है और कितना अनावश्यक कबाड़खाने को लेकर आया है? नए वर्ष-नए दिन के स्वागत में यदि यह विश्लेषण नहीं किया गया तो नए का कितना महत्त्व हो सकेगा ?

नया वर्ष-नया दिन, केवल मानव के लिए ही नहीं, समूचे जगत् के लिए, प्राणी मात्र के लिए कल्याणकारी हो, यह कामना है। आज जो नया दिन आ रहा है, उसकी पृष्ठभूमि में कुछ घटनाएं भय पैदा करने वाली हैं। आकाश साफ नहीं है, बादल साफ नहीं है। संहार और युद्ध के बादल चारों ओर मंडरा रहे हैं। चारों ओर आशंका है। कब क्या हो जाए, कुछ कहा नहीं जा सकता। हमारी भावना है - युद्ध न हो, आतंक न हो। लेकिन एक बड़ी कठिनाई है - युद्ध और आतंक अपने आप नहीं आते। कुछ लोग इन्हें आमंत्रित करते हैं। कुछ हिंसा प्रिय लोग हिंसा की प्रवृत्ति को बढ़ावा देते हैं और यह प्रवृत्ति युद्ध को आमंत्रित करती है।

2001 का वर्ष बीत गया, 2002 का वर्ष आ गया है। प्रश्न है 2002 का वर्ष कैसा होगा? विश्व के वृत्त पर घटित होने वाले घटना-चक्र को देखते हुए कहा जा सकता है कि विश्व अभी भी हिंसा से अहिंसा की ओर जाने की बात नहीं सोच रहा। अशांति से शांति की ओर जाने की बात नहीं सोच रहा। एक मतिभ्रम पैदा किया जा रहा है और व्यक्ति हिंसा को ही सार्थक व समाधान का हेतु मान रहा है। जब तक यह अवधारणा न बदलेगी, तब तक नया वर्ष कल्याणकारी होगा- यह कहना कठिन है।

समझदार व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि वह अध्यात्म की दिशा में गतिशील बनें। विभीषिका चाहे युद्ध की हो, अभाव की हो या संत्रास की हो, इनसे बचने का राजमार्ग है - अध्यात्म की चेतना का जागरण। अहिंसा की चेतना जागे। प्राणी मात्र के प्रति आत्म-तुला का भाव जागे। सभी जीवों के प्रति समानता की अनुभूति जागे। नया वर्ष उस चेतना के जागरण का हेतु बने तो नए वर्ष का स्वागत किया जाना चाहिए। हम संकल्प करें -

नए वर्ष को स्वागत योग्य बनाना है, न कि तिरस्कार योग्य।

हिंसा, युद्ध, लड़ाई, अशांति का परिणाम आम-जनता को भोगना पड़ता है। युद्ध का अर्थ है गरीबी बढ़ाना। युद्ध का अर्थ है - अभाव बढ़ाना। युद्ध का अर्थ है - आर्थिक स्थिति को अस्थिर बनाना। गरीबी, अभाव, आर्थिक अस्थिरता किसी के लिए हितकर नहीं, किसी को प्रिय नहीं। दूसरा महायुद्ध यूरोप व एशिया की कुछ भूमि पर हुआ पर आर्थिक दृष्टि से पूरा संसार उससे पीड़ित हुआ। पूरा संसार उससे प्रभावित हुआ। हिंसा और अशांति किसी के लिए कल्याणकारी नहीं। अहिंसा और शांति से ही कल्याण मार्ग को प्रशस्त किया जा सकता है। युद्ध करने, आवेश करने से कभी कल्याण नहीं हो सकता। हम मंगल भावना करें, अहिंसा और शांति के प्रति रुझान बढ़े। युद्ध जैसी विकट स्थितियां न रहे। अध्यात्म की, अहिंसा की चेतना का जागरण हो। लेकिन पदार्थ का मोह चेतना में इतना व्याप्त है कि मनुष्य अध्यात्म की बात सोचने के लिए ही तैयार नहीं। आवेश, क्रोध, लोभ आदि भाव चेतना पर पर्दा डालते हैं, आत्मा ढकी हुई रह जाती है, आत्मा पर आवरण आया हुआ है, इसीलिए व्यक्ति सही दिशा में सोच नहीं सकता। पर्दे में बहुत कुछ छिपाया जाता है। पहले महिलाएं पर्दे में रहती थीं। एक व्यक्ति ने कहा - पर्दा नहीं उठना चाहिए। क्योंकि हजारों कुरुप महिलाओं की कुरुपता पर्दे में छिप जाती है। यदि पर्दा उठ गया तो उन महिलाओं का क्या होगा? कुरुपता को भी छिपाया जाता है और चीजों को भी छुपाया जाता है। चेतना पर भी एक पर्दा, एक आवरण आया हुआ है। वह नहीं हटेगा तब तक यथार्थ कैसे सामने आ सकेगा? आवरण के कारण व्यक्ति भ्रान्ति में जी रहा है। एक मृगमरीचिका, एक व्यामोह व्यक्ति के सामने हैं और वह नहीं समझ पा रहा है कि कहां जाएं? मृगमरीचिका से कभी प्यास नहीं बुझाई जा सकती। व्यक्ति नहीं समझ पा रहा है कि वह कहां जाकर अपनी प्यास बुझाए? हम चिन्तन करें, धार्मिक लोग और भी ज्यादा चिन्तन करें— उत्तेजना को कैसे उपशांत कर सकें? आवेश को कैसे अनावेश में बदल सकें? मोह को कैसे वीतरागता में ले जाएं?

आज कठिनाई यह है कि धार्मिकों की संख्या बहुत बड़ी है, अरबों की संख्या है। पर, मैं तो उन्हें धार्मिक नहीं, मात्र अनुयायी कहूंगा। बहुत बड़ी संख्या में धार्मिक नहीं, मात्र अनुयायी हैं। फिर भी एक मतिभ्रम पैदा किया जा रहा है। जातिवाद का खेल खेला जा रहा है। जातिवाद के आधार पर भयंकर हिंसा हो रही है। साम्प्रदायिक उन्माद, साम्प्रदायिक कट्टरता के आधार पर हिंसा का तांडव हो रहा है। हर आदमी अपने सम्प्रदाय को अच्छा समझ रहा है व उसी में सबको दीक्षित करना चाहता है। अपनी आस्था किसी सम्प्रदाय में रहे, ठीक है पर उसके आधार पर दूसरे को हीन समझा जाए, येन-केन-प्रकारेण उसी में सबको दीक्षित करना चाहता है। अपनी आस्था किसी सम्प्रदाय में रहे, ठीक है, पर उसके आधार पर दूसरे को हीन समझा जाए, येन-केन-प्रकारेण उसी में सबको दीक्षित करने का प्रयास किया जाए, यह हिंसा का कारण बन रहा है। कुछ लोक येन-केन-प्रकारेण, जैसे-तैसे गलत तरीकों से अर्थ का अर्जन करते हैं, धन-कुबेर बनना चाहते हैं। क्रूर व्यवहार, शोषण के आधार पर किये जाने वाले अर्थ का अर्जन हिंसा का बड़ा कारण है।

हिंसा की मानसिकता वाले इस युग में अहिंसा की अनिवार्यता व महत्ता है। इसीलिए अहिंसा-यात्रा चल रही है। अहिंसा का उद्देश्य केवल 'मत मारो' तक ही सीमित नहीं है। हम खोज कर रहे हैं हिंसा के कारणों का। हिंसा के प्रमुख कारणों की खोज करने पर लगा-अभाव बहुत बड़ा कारण है हिंसा का। व्यक्ति को जब तक खाने को नहीं मिलता, प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती, तो व्यक्ति अनायास ही हिंसा की दिशा में प्रेरित हो जाता है, हिंसा करता है। आतंकवाद के पीछे इस समस्या को देखा जा सकता है। जातिवाद व साम्प्रदायिक कट्टरता भी हिंसा के बहुत बड़े कारण हैं। हिंसा का सबसे बड़ा कारण है - व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना जागृत नहीं है। इसीलिए वह अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं कर पा रहा है। जब व्यक्ति का स्वयं अपने संवेगों पर नियंत्रण नहीं होता तो कोई भी आदमी, कभी भी आवेशों को उत्तेजना दे सकता है। उसे हिंसा में झोंक सकता है।

अहिंसा चेतना के जागरण के लिए ऐसा कुछ सोचें कि व्यक्ति में अपने आप पर नियंत्रण की अभिरुचि जागे। समय पर वह अपने संवेगों पर नियंत्रण कर सके। अपने आवेश पर अपना नियंत्रण और आन्तरिक प्रकाश, समस्या से समाधान पाने के लिए ये दो उपाय आवश्यक हैं। इनके अभाव में क्या स्थिति घटित हो सकती है, इसे रूपक की भाषा में समझा जा सकता है- कार सही ढंग से नहीं चल रही थी। चौराहे पर पुलिस ने कार को रोकने का संकेत किया। उसने ध्यान दिलाया कि कार बिना लाइट किए कैसे चला रहे हो, रात का समय है ? ड्राइवर ने कहा - तुम भी रास्ते से हट जाओ। कार का ब्रेक भी नहीं है। कल्पना करें, जिस कार में लाइट भी नहीं, ब्रेक भी नहीं, वो कितनी खतरनाक हो सकती है। नया वर्ष, आने वाला नया दिन कम खतरनाक हो, इसके लिए अपेक्षा है भीतर का आलोक जागे। अन्तश्चक्षु उदघाटित हो। अपने संवेगों पर अपना नियंत्रण स्थापित हो। जहां अन्तर का तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

आलोक भी नहीं होता और अपने पर नियंत्रण भी नहीं होता वहां खतरा बढ़ जाता है। ऐसे लोगों द्वारा आज ही खतरा बढ़ रहा है। धर्म, अहिंसा, शांति जैसे शब्दों के सामने ही आज बड़ा प्रश्न पैदा हो गया है। मूल प्रश्न है कि व्यक्ति कैसे बदले? ऐसा कौन-सा उपाय हो जिससे आदमी की चेतना बदल सके। बदलाव की दिशा में सबसे बढ़िया उपाय है प्रशिक्षण का। अध्यात्म के प्रशिक्षण से, अहिंसा के प्रशिक्षण से व्यक्ति को बदला जा सकता है।

चेतना का रूपांतरण किया जा सकता है। केवल उपदेश या प्रचार-प्रसार से कभी परिवर्तन हो नहीं सकता। केवल सिद्धान्त की शिक्षा से भी चेतना को बदला नहीं जा सकता। परिवर्तन की बात प्रयोगात्मक प्रशिक्षण से ही संभव हो सकती है। प्रयोगात्मक प्रशिक्षण से अभ्यास का क्रम आगे बढ़े। अभ्यास से संस्कार और संस्कार से नए विचार उद्भूत होते हैं। विचार को संस्कार में न बदलें, तब तक लाभ नहीं हो सकता। विचार संस्कार में आए, संस्कार आचार में आए, यह अपेक्षा है। इसके लिए प्रशिक्षण आवश्यक है।

जिस वातावरण में, जिस परिस्थिति में आज विश्व है, जो घटनाएं हमारे सामने से गुजर रही हैं, इन परिस्थितियों में आज हिन्दुस्तान को भी बहुत कुछ सोचना है। जो परिकल्पनाएं की जा रही हैं, जो घटनाएं घटित हो रही हैं, नये वर्ष के संदर्भ में उनका प्रतिबिम्ब तो अभी देखा जा सकता है। अधूरे चित्र से भी बहुत कुछ समझा जा सकता है, अनुमान किया जा सकता है। पर अनेक तरह की विवशताएं भी हैं। किसी भी समस्या को पड़ोसी या दूसरा व्यक्ति न सुलझाना चाहे तो समस्या बनी की बनी रहती है। यह समझ जगाने की जरूरत है कि हिंसा से कभी समाधान नहीं हो सकता। आखिर हर राष्ट्र को संधि करनी पड़ती है। एक दिन हिंसा को विराम देना ही पड़ता है। आज समस्या यह है कि इस सच्चाई को जानते हुए भी अनजान बना जा रहा है, हिंसा में समाधान खोजा जा रहा है।

समाज में व्याप्त अनैतिकता भी हिंसा का बड़ा कारण है। इस पर विचार करना, ध्यान देना अपेक्षित है। शिक्षा में प्रारम्भ से ही अहिंसा, नैतिकता आदि की शिक्षा देते हुए इनकी चेतना जगाने का प्रयास किया जाए, तो समाधान की दिशा में एक सार्थक कदम हो सकता है।

इन सब समस्याओं पर मिलजुल कर विचार किया जाए, ठोस चिन्तन पूर्वक निर्णय की दिशा में गति की जाए तो नए वर्ष के लिए शुभ भविष्यवाणी की जा सकती है, अन्यथा तो कोई भविष्यवाणी न करना ही ठीक है। हम चिन्तन पूर्वक जीवन को अच्छा बनाने का प्रयास करें। संकल्प करें- आने वाला वर्ष कल्याणकारी हो।

2002 जनवरी-मार्च का अंक आपके पास विलम्ब से पहुंचेगा, इसलिए आचार्य श्री महाप्रज्ञ का यह प्रेरक संदेश इसी अंक में आप तक पहुंचा रहे हैं।

अनेकान्त की सार्थक प्रस्तुति

—मुमुक्षु शान्ता जैन

इक्कीसवीं सदी का यह पहला वर्ष हमारे लिए मील का पत्थर बन रहा है। क्योंकि इस वर्ष भगवान महावीर के 26सौवें जन्मकल्याणक महोत्सव को मनाने के बहाने एक बार फिर भगवान महावीर के जीवन-दर्शन, प्रवचन-पाथेय एवं सैद्धान्तिक अवधारणाओं को स्मृति पथ में लाकर नई रोशनी दी जा रही है। यह उत्सव महावीर के संदेश को पढ़ने, सुनने, जानने और समझने की एक सफल कोशिश है।

देश में अनेक आयोजनों, उत्सवों, संगोष्ठियों, सेमीनारों की ताजी, तूफानी खबरें मिल रही हैं। इस वर्ष को 'अहिंसा वर्ष' घोषित किया गया है। भगवान महावीर के चिन्तन को सब तक पहुंचाने का पुरुषार्थी प्रयत्न भी गतिशील है। इन सबका एक ही उद्देश्य है—महावीर के द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्तों को जीवन शैली में ढालें। शास्त्रों की गूढ़ गुत्थियों में सिमटे अनेकान्त के सूक्ष्म रहस्यों को जीवन की भूमिका पर समझें। जैनों का नेतृत्व अपने चरित्र की पहचान बनाए और धर्म के सारभूत तत्वों को सम्पूर्ण मानवता के कल्याणार्थ समर्पित किया जा सके।

भगवान महावीर व्यक्ति नहीं, एक विचार थे। उनके दर्शन, चिन्तन, कर्म और प्रयोगों ने जो परिणाम दिए, आज हर आदमी के लिए वे बुनियादी पत्थर बनें हैं। उन्होंने वीतरागता के शिखर पर खड़े होकर जो विचारक्रांति और आचारक्रांति का सिंहनाद किया उससे सदियों तक आदमी प्रकाश पाता रहेगा। जरूरत सिर्फ सत्यग्राही बनने की है।

महावीर अनेकान्त के प्रयोक्ता थे। उन्होंने सत्य को देखने के अनन्त दृष्टिकोण बतलाए। सत्य की व्याख्या में कहा गया— एक ही वस्तु में अनन्त विरोधी युगलों के धर्म होते हैं। जैसे नित्य-अनित्य, सदृश-विसदृश, सामान्य-विशेष। मनुष्य एक है पर नाम, रूप, बुद्धि, गुण, देश, काल, परिस्थिति के आधार पर उसमें अनेक पर्यायों का अस्तित्व है। विरोधी धर्मों का अस्तित्व स्वीकार कर मुख्य-गौण के आधार पर जीवन-शैली

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

व्याख्यायित की जाए तो सह-अस्तित्व की, समन्वय की, अमन शांति की स्थिति संभव हो सकती है।

अनेकान्त से सह-अस्तित्व, सापेक्षता और स्वतंत्रता का विकास होता है।

अनेकान्त चिन्तशैली है सत्य को सझने की।

अनेकान्त एक दिशायंत्र है सही दिशा में सही रास्ता पाने का।

अनेकान्त एक विश्वास है दो विरोधी गुणों में परस्पर सह-अस्तित्व के होने का।

अनेकान्त एक दिशा-दर्शन है 'ही' नहीं, 'भी' के साथ चलने का जहां सारे वैचारिक, मानसिक द्वन्द्व, संघर्ष खत्म हो जाते हैं।

विचार-भेद, आस्थाभेद और रुचिभेद के बीच भी सत्य को तलाशा जा सकता है, यदि सापेक्ष चिन्तन हो। सह-अस्तित्व की स्वीकृति हो। अनाग्रही जीवनशैली हो। सम्यक् दृष्टिकोण हो। संभावनाओं की प्रस्तुति में हमारा विश्वास हो।

वस्तु में अनन्त पर्यायें होती हैं। इसका मतलब है कि विकास की अनन्त संभावनाएं अस्तित्व में छुपी हैं। जरूरत है दृष्टि परिष्कार की। पर्याय परिवर्तन का शाश्वत नियम अनेकान्त का व्याख्या सूत्र कहा जा सकता है। व्यक्त में जो कुछ हम देखते हैं, सुनते हैं, सोचते हैं, स्वीकार कर जीते हैं वह सत्य का सिर्फ वह एक अंश है, इसलिए उसे ही अन्तिम सत्य मानकर नहीं चल सकते, क्योंकि इस स्वीकृति में अनेक आग्रह, विरोध, संशय, विचार, भय, भेद पैदा हो सकते हैं। अव्यक्त की सत्ता भी स्वीकार कर चलें।

ज्ञान और आचार की समन्विति हर युग की मांग रही है, क्योंकि कोरा ज्ञान दीवार पर टंगी तस्वीर है जो सौन्दर्य देती है मगर प्राणवत्ता नहीं। कोरा व्यवहार लक्ष्यहीन सफर है जो चलता है मगर दिशाविहीन।

सिद्धान्त को जानकर प्राप्त ज्ञान को चरित्र में ढालना जीवन की सार्वभौम सत्ता की खोज में उठा सही कदम कहा जा सकता है।

अनेकान्त केवल तत्त्वदर्शन नहीं है, सम्पूर्ण जीवन का दर्शन है। इसे समझने के लिए हमें आस्था और अभ्यास दोनों की जरूरत है। हम संकल्पित होकर साधना करें कि हम में —

- सापेक्षता का विकास हो
- सह-अस्तित्व की स्वीकृति हो
- अनाग्रही चिन्तन शैली जागे
- सहिष्णुता और समन्वय का अभ्यास हो
- विधायक दृष्टिकोण बने
- अहिंसक चेतना का उदय हो

आज सिर्फ महावीर को मानकर चलने का युग नहीं, उन्हें जीने का युग है। महावीर की पूजा नहीं, स्वयं महावीर बनने की तैयारी में जुटना है।

आज का आदमी प्रतीक्षा में खड़ा है महावीर को समझने के लिए। आज उसे विचारों की भीड़ नहीं चाहिए, उसे निर्णायक गति और सही दिशा चाहिए। वह कोल्हू की बेल की तरह तेलघानी में सिर्फ घूमता ही नहीं रहना चाहता, उसे केन्द्र की खोज है। परिधियां सिर्फ भटकाव है, मंजिल नहीं। इसलिए महावीर के प्रदत्त जीवन सूत्रों में जीवन की सार्थकता को खोजना है।

आज सावधानी इस बात की रखनी है कि मनुष्य की आस्थाएं कहीं कमजोर न पड़ जाएं, क्योंकि जड़ें नहीं सूखनी चाहिए अन्यथा वृक्ष गिर पड़ता है। टूटती शाखाओं को थामने के लिए सक्षम हाथ चाहिए। महावीर की अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह जैसे संदेश हमें थामते हैं गिरने से।

आज जरूरी है दृष्टिविपर्यास को मिटाने की, मूल को पकड़ने की। इसी उद्देश्य से गंगाशहर में (1-3 अप्रैल, 2001) 'अनेकान्त सिद्धान्त और व्यवहार विषय' पर महान् दार्शनिक आचार्यश्री महाप्रज्ञ की सन्निधि में जैन विश्वभारती संस्थान के तत्त्वावधान में त्रिदिवसीय राष्ट्रीय परिसंवाद आयोजित हुआ था। इस संगोष्ठी में अनेकान्त के विविध दार्शनिक, सैद्धान्तिक, व्यावहारिक पक्षों पर खुली बहस हुई थी। इस सेमीनार में प्रस्तुत विद्वानों के चयनित आलेखों को 'तुलसी प्रज्ञा' में प्रकाशित करने का चिन्तन लिया गया ताकि प्रबुद्ध लेखकों द्वारा विविध दृष्टिकोणों से व्याख्यायित अनेकान्त के सिद्धान्त और जीवन-शैली के सूत्रों को पाठकों तक सहज बोधगम्य करवाया जा सके।

'तुलसी प्रज्ञा' का यह अंक अनेकान्त की बहुसामग्री के साथ प्रकाशित हो रहा है। यह एक छोटी सी कोशिश है अनेकान्त को सही-सही समझने की। सिद्धान्तों को पढ़कर व्यवहार में उसे जीने का संकल्प करने की। क्योंकि अन्धेरो से लड़ने के लिए एक नन्हें से दीए के जलते रहना भी स्वयं में मूल्यवान है। यह प्रयास सार्थकता पा सकता है यदि मानवीय संस्कारों में, विचारों में सामंजस्य स्थापित करें। यह सारा प्रयास सिर्फ इसलिए है कि कहीं न कहीं हम अपने होने का सही अर्थ पा सके। यह वर्ष एक स्वर्णिम अवसर लाया है कि हम साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से मुक्त होकर, आग्रही पकड़ छोड़कर सत्य की खोज में सहयात्री बने। और इसी सन्दर्भ में तुलसी प्रज्ञा का यह प्रयास भगवान महावीर के चरणों में एक विनम्र श्रद्धाञ्जलि होगा।



अनेकान्तवाद

— आचार्य महाप्रज्ञ

जैन-दर्शन ने सम्यक्दर्शन को बहुत महत्व दिया है। हम देखते हैं किन्तु देखने के पीछे एक विशेष प्रकार का बोध होता है। हम पदार्थ को जानते हैं किन्तु द्रव्य को नहीं जानते। हमारा सारा दृष्टिकोण पदार्थवादी है। हम मनुष्य को जानते हैं, आत्मा को नहीं जानते। हम कीड़े-मकोड़ों को जानते हैं, आत्मा को नहीं जानते। हम पेड़-पौधों को जानते हैं, आत्मा को नहीं जानते। पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, गाय, भैंस और आदमी मूल वस्तु नहीं हैं, मूल द्रव्य नहीं हैं, मूल द्रव्य सदा पर्दे के पीछे रहता है। जो सामने आता है, वह उसका एक कण या एक पर्याय होता है। हम पर्याय को देखते हैं, द्रव्य को नहीं। पेड़-पौधे, कीड़े-मकोड़े, गाय, भैंस और आदमी ये सब पर्याय हैं। हम पर्याय को देखते हैं, पर्याय को जानते हैं। इसीलिए हमारा आग्रह पर्याय में आबद्ध हो जाता है।

सरल है पर्याय का दर्शन

पर्याय का दर्शन बहुत सरल है। इसीलिए पर्यायवादी दर्शन बहुत वैज्ञानिक दर्शन लगता है। पर्यायवादी दर्शन जो सामने है उसका निरूपण करता है और जो सामने नहीं है उसे अस्वीकार कर देता है। यह बहुत सीधा मार्ग है। जो सामने है, उसे व्याकृत कर दिया गया और जो सामने नहीं है उसे अव्याकृत कर दिया गया। यह पर्यायवादी दर्शन है। मनुष्य एक पर्याय है। किन्तु क्या वह केवल पर्याय ही है? पर्यायवादी के आधार पर पहले और पीछे की बात नहीं सोची जा सकती। मनुष्य पर्याय है। उससे पहले क्या था और बाद में क्या होगा? पर्यायवाद के आधार पर इसका निर्धारण नहीं किया जा सकता। जो व्यक्ति अभी है, वह बाद में क्या होगा और वह पहले क्या था, यह पर्यायवादी दृष्टिकोण से नहीं सोचा जा सकता।

दो दृष्टिकोण

एक दर्शन का दृष्टिकोण है— जो दृश्य है, वह सच्चाई नहीं है। उस दर्शन का स्वर इस रूप में प्रकट हुआ— 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या'। हम सत्य हैं और यह जगत् मिथ्या है। जो दिख रहा है, वह असार है, मिथ्या है। दूसरे दर्शन का दृष्टिकोण है— प्रत्येक पर्याय वर्तमान है, क्षणिक है। समाप्त होने के बाद कुछ भी नहीं होता। यह मिथ्या का सिद्धान्त पर्याय के आधार पर चलता है। जितने पर्याय हैं वे सब मिथ्या हैं। एक दृष्टि से विचार करें तो पर्याय मिथ्या है, यह कहना भी असंगत नहीं है। पर्याय को मिथ्या कहा जा सकता है। जो अभी है वह बाद में नहीं भी हो सकता है। उसे मिथ्या, झूट, माया या धोखा मान लें तो कोई अस्वाभाविक बात नहीं लगती।

हमारे सामने दो दृष्टिकोण हैं—एक दृष्टिकोण पर्याय को सत्य बतला रहा है और दूसरा दृष्टिकोण पर्याय को मिथ्या बतला रहा है। एक ओर जगत् मिथ्या और ब्रह्म सत्य का घोष है तो दूसरी ओर जगत् सत्य और ब्रह्म अव्याकृत का घोष है। ब्रह्म का कोई पता नहीं है। आत्मा का कोई पता नहीं है। जो दृश्य नहीं है, वह सत्य नहीं है और जो दृश्य है, वह सत्य है। द्रव्य दृश्य नहीं है।

ज्ञेय तत्त्व दो हैं

द्रव्य और पर्याय- इन दो के आधार पर सारे विचारों का विकास हुआ है। सारे दर्शनों का विकास हुआ है। जितने भी दर्शन हैं वे या द्रव्यवादी हैं या पर्यायवादी। द्रव्यवादी दर्शन द्रव्य की व्याख्या कर रहे हैं, सत्य और शाश्वत की व्याख्या कर रहे हैं। नित्य और शाश्वत की व्याख्या कर रहे हैं। पर्यायवादी दर्शन नित्यवादी दर्शन है। तीसरा कोई दर्शन नहीं है। द्रव्यवादी दर्शनों ने द्रव्य की व्याख्या की और प्रत्येक द्रव्य को कूटस्थ नित्य बताया। द्रव्य नित्य है। नित्य ही सत्य है। जो अनित्य है, वह सत्य नहीं है। एक सूत्र बन गया— शाश्वत सत्य और अशाश्वत मिथ्या। पर्यायवादी दर्शनों ने पर्याय की व्याख्या की। उनके लिए परिवर्तन सत्य है और जो नहीं बदलता है, वह असत्य होता है।

जैन आचार्यों ने इस समस्या पर विचार किया। उन्हें लगा, दोनों दृष्टियां ठीक नहीं हैं। दोनों में कमियां हैं। ज्ञेय पदार्थ दो हैं—द्रव्य और पर्याय। इनके सिवाय जानने का कोई विषय ही नहीं है। सारा ज्ञेय विषय इन दो भागों में ही विभक्त होता है। विषय दो हैं तो जानने की दृष्टियां भी दो ही होंगी। द्रव्य को जानने वाली दृष्टि द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय को जानने वाली दृष्टि पर्यायार्थिक नय है।

अनेकान्त और सम्यक् दर्शन

प्रश्न होता है— सम्यक् दर्शन क्या है? द्रव्य को जानने वाली द्रव्य दृष्टि में अटक जाती है तो वह मिथ्यादर्शन है और पर्याय को जानने वाली दृष्टि पर्याय में अटक जाती है तो वह भी मिथ्या दर्शन है। द्रव्य को जानने वाली दृष्टि द्रव्य का प्रतिपादन करती है, किन्तु

पर्याय को अस्वीकार नहीं करती और पर्याय को जानने वाली दृष्टि पर्याय का प्रतिपादन करती है, द्रव्य को अस्वीकार नहीं करती। दोनों दृष्टियां परस्पर सापेक्ष हो जाती हैं। इसका नाम है—सम्यक् दर्शन। निरपेक्षदृष्टि मिथ्या-दर्शन और सापेक्षदृष्टि सम्यक्दर्शन।

अनेकान्त और सम्यक्दर्शन—दोनों समान अर्थ वाले बन जाते हैं। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों दृष्टियां अलग-अलग होती हैं तो एकान्तवाद होता है। द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों दृष्टियों का अलग होना मिथ्या दर्शन है और दोनों दृष्टियों का संयुक्त होना सम्यक्दर्शन है। इसका अर्थ है अनेकान्त और सम्यक्दर्शन दोनों पर्यायवाची हैं और एकान्त और मिथ्यादर्शन—दोनों पर्यायवाची हैं।

अनेकान्त निष्कर्ष :

जैन दर्शन ने द्रव्य और पर्याय की व्याख्या अनेकान्त के आधार पर की। इसलिए जैनदर्शन न द्रव्यवादी है और न पर्यायवादी है। वह द्रव्य को भी स्वीकार करता है और पर्याय को भी स्वीकार करता है। इसी आधार पर जैन-दर्शन के सन्दर्भ में कहा गया — वह न नित्यवादी है और न अनित्यवादी है, किन्तु नित्यानित्यवादी है। वह न सामान्यवादी है और न विशेषवादी है, किन्तु सामान्य-विशेषवादी है। न एकवादी है और न अनेकवादी है, किन्तु अनेकानेकवादी है। वह न अस्तित्वादी है और न नास्तित्वादी है, किन्तु अस्तित्वास्तित्वादी है। ये सारे निष्कर्ष अनेकान्तवाद के आधार पर फलित हुए हैं।

शाश्वतवाद की समस्या :

मूल दृष्टियां दो हैं—द्रव्यनय और पर्यायनय। जितना नित्यता का अंश है, जितना शाश्वत है, उसका प्रतिपादन करने वाली दृष्टि या पर्यायार्थिक नय है। दो ही तत्व प्रत्येक दर्शन के सामने हैं—नित्य और अनित्य, शाश्वत और अशाश्वत। जैन-दर्शन शाश्वतवादी नहीं है। शाश्वतवादी को कुछ करने की जरूरत नहीं होती। साधना का विधान बनाने की जरूरत नहीं होती। आत्मा शाश्वत है, नित्य है, जैसा है, वैसा रहेगा तो साधना की कोई आवश्यकता नहीं। व्यक्ति साधना किसलिए करे ? यदि आत्मा में परिवर्तन नहीं होता है तो साधना व्यर्थ है। यदि परिवर्तन होता है तो शाश्वतता का सिद्धान्त खण्डित हो जाता है। दोनों ओर से विरोध प्रस्तुत हो जाता है। एकांगी दृष्टिकोण में दोनों ओर से समस्या आती है।

तर्क जैन आचार्यों का

जैनाचार्यों ने एक तर्क प्रस्तुत किया—

नैकान्तवादे सुखदुःखभोगे न पुण्य-पापे न च बन्धमोक्षौ ।

एकान्तवाद में सुख और दुःख का योग नहीं हो सकता। बंध और मोक्ष नहीं हो सकता। अगर आत्मा बदलती नहीं है तो यह नहीं माना जा सकता कि वह पहले दुःखी था और अब सुखी बन गया। पहले दुःखी था और अभी सुखी बन गया, इसका अर्थ है आत्मा पहले एक अवस्था में थी और अब दूसरी अवस्था में आ गई, परिवर्तन हो गया। अगर

आत्मा परिवर्तित नहीं है तो यह नहीं कहा जा सकता कि पहले दुःखी थी, बाद में सुखी बन गई। पहले सुखी और बाद में दुःखी—यह स्थिति परिवर्तनशील पदार्थ में ही घटित हो सकती है। इसलिए जैनदर्शन ने आत्मा को न सर्वथा शाश्वत माना और न सर्वथा अशाश्वत माना। आत्मा शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है। आत्मा शाश्वत है, इसलिए उसका अस्तित्व नाना पर्यायों में परिवर्तित होता रहता है। वह कभी सुखी बनता है और कभी दुःखी बनता है। वह कभी मनुष्य बनता है और कभी पशु बनता है।

यदि आत्मा शाश्वत है तो पुण्य और पाप की व्यवस्था घटित नहीं हो सकती। वह अलिप्त है, शाश्वत है तो मानना होगा कि सारे संसार की हत्या करके भी आत्मा उसमें लिप्त नहीं हो सकता। क्योंकि वह शाश्वत है, जैसा है, वैसा ही रहता है। उसमें एक राई भर का भी फर्क नहीं पड़ता। इस स्थिति में न पुण्य की बात हो सकती है और न पाप की। व्यक्ति कुछ भी करे, न पुण्य होगा और न पाप होगा। यदि आत्मा शाश्वत है तो बंध और मोक्ष की व्यवस्था भी घटित नहीं हो सकती। प्रश्न होगा—आत्मा शाश्वत है तो बंध किसका और मोक्ष किसका? ये सारे परिवर्तन पदार्थ में ही घटित हो सकते हैं।

जैन दर्शन की भाषा

जैन-दर्शन के अनुसार जैसी एक आत्मा है, वैसा ही परमाणु है। बहुत बार कहा जाता है—आत्मा अमर है। शरीर मरता है, यह जैन दर्शन की भाषा नहीं है। आत्मा अमर है, यह भी सर्वथा सही नहीं है। एक परमाणु अमर है तो आत्मा भी अमर है। आत्मा अमर है तो एक परमाणु भी अमर है। कोई फर्क नहीं है। अगर परमाणु मरता है, शरीर मरता है, तो आत्मा भी मरता है। प्रश्न होता है—शरीर क्या है? शरीर मूल द्रव्य नहीं है। शरीर एक पर्याय है। मूल द्रव्य है—परमाणु। शरीर नहीं रहा, हम कहते हैं—अमुक व्यक्ति मर गया। वस्तुतः नष्ट कुछ भी नहीं हुआ। केवल रूपान्तरण हुआ है। जो परमाणु शरीर के रूप में थे, वे शरीर के रूप में समाप्त हो गए और दूसरे रूप में बदल गए। एक सार्वभौम सिद्धान्त है—जितने द्रव्य इस संसार में हैं, उतने ही थे और उतने ही रहेंगे। एक भी परमाणु न अधिक होगा और न न्यून होगा। कुछ भी परिवर्तन नहीं होगा। परिवर्तन का सिद्धान्त अपरिवर्तन का सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है। समस्या यह है—जो केवल द्रव्यार्थिक सत्य को मानकर चलते हैं, वे मूल स्रोत की व्याख्या नहीं कर सकते। मूल अस्तित्व की व्याख्या नहीं कर सकते।

समन्वय की मौलिक दृष्टियां

बौद्ध दर्शन पर्यायवादी दर्शन है। जब उसके सामने आत्मा आदि के प्रश्न आए तो उन्हें अव्याकृत कहकर टाल दिया गया। क्योंकि एकान्तवाद के द्वारा उनकी सम्यक् व्याख्या नहीं हो सकती। जैन-दर्शन ने इन दोनों दृष्टियों—द्रव्यार्थिक दृष्टि और पर्यायार्थिक दृष्टि का समन्वय किया। जैन दर्शन ने कहा—मूल तत्व भी है और पर्याय भी है। इसलिए द्रव्य की व्याख्या भी की और पर्याय की व्याख्या भी की। उसने शाश्वत और अशाश्वत—दोनों का

समन्वय साधा। आज के विचारक और विद्वान् कहते हैं— जैन-दर्शन मौलिक दर्शन नहीं है। यह दूसरे दर्शनों का समुच्चय है। दूसरे दर्शनों के विचारों का एक पुलिन्दा है। यह धारणा क्यों बनी? इसका आधार बना जैन आचार्यों की समन्वय दृष्टि। जैन आचार्यों ने समन्वय किया नयों के आधार पर, यह उनका समन्वयपरक दृष्टिकोण था। समन्वय का दृष्टिकोण जिन दृष्टियों से किया, वे उनकी अपनी मौलिक थी। किन्तु जब समन्वय साधा तो दूसरों को लगा— यह नित्यवाद सांख्यदर्शन का है। सांख्य आत्मा को कूटस्थ नित्य मानता है। यह नित्यवाद वेदान्त का सिद्धान्त है। अनित्यवाद बौद्धों का सिद्धान्त है। जैनों ने नित्यवाद सांख्य और वेदान्त से ले लिया तथा अनित्यवाद, पर्यायवाद बौद्धों से ले लिया। यह लेने का प्रश्न नहीं था। यह प्रश्न था समन्वय का।

समन्वय : परसमय

जैनाचार्यों ने समन्वय किया। आचार्य सिद्धसेन और समन्तभद्र से लेकर आचार्य हरिभद्र और उपाध्याय यशोविजय तक और आज आचार्य तुलसी तक भी यह परम्परा चल रही है। जैन लोग सब दृष्टियों का समन्वय साधते हैं। वे एकान्तदृष्टि से किसी तत्व की व्याख्या नहीं कर सकते। वे प्रत्येक तत्व में समन्वय खोजते हैं। उनका चिन्तन होता है—यह बात किस अपेक्षा से कही जा रही है। जो कहा जा रहा है, वह गलत नहीं है, पर यह परसमय क्यों कहा जा रहा है? यह एकान्तदृष्टि से ऐसा माना जा रहा है। यदि परसमय को सापेक्ष कर दिया जाए तो यह स्वसमय बन जाएगा।

स्वसमय और परसमय में बहुत अन्तर नहीं है। रत्न अलग-अलग पड़े हैं, उनकी एक माला बना दी जाए, रत्नावली बन जाएगी, हार बन जाएगा। जब तक रत्न अलग-अलग पड़े हैं, रत्नावली नहीं बन पाएगी। उन्हें पिरो दिया गया तो रत्नावली या हार बन गया। अनेक विचार अलग-अलग बिखरे पड़े हैं और अपने ही विचार पर अड़े हुए हैं तो वे परसमय हैं। उन सबको मिला दिया जाए तो स्वसमय बन जाएगा। नित्यवाद सही नहीं है। अनित्यवाद भी सही नहीं है। नित्य और अनित्य दोनों को मिला दिया जाए तो दोनों सम्यक् बन जाएंगे, स्वसमय बन जाएंगे।

परिवर्तन : अपरिवर्तन

आचार्य सिद्धसेन ने लिखा—द्रव्यार्थिक नय बिल्कुल सही है। यदि द्रव्यार्थिक नय बिल्कुल सही है तो सांख्य का कूटस्थ नित्य भी बिल्कुल सही है। पर्यायार्थिक नय बिल्कुल सही है तो बौद्धों का क्षणभंगुरवाद भी बिल्कुल सही है। यदि एकान्त नित्यवाद निरपेक्ष है और वह कहता है—केवल कूटस्थ नित्य ही सही है, परिवर्तन सही नहीं है तो सम्यक् नहीं है। यदि एकान्त अनित्यवाद निरपेक्ष है और वह कहता है—केवल परिवर्तन ही सम्यक् है, अपरिवर्तन सही नहीं है तो वह भी सम्यक् नहीं है। परिवर्तन और अपरिवर्तन—दोनों का समन्वय करो, दोनों को एक साथ जोड़ दो तो दोनों सही हो जाएंगे। सम्यक्दर्शन या स्वसमय बन जाएंगे।

वैराग्य का आधार : परिवर्तनवाद

वस्तु को देखने का यह दृष्टिकोण अनेकान्त की मौलिकता है। हम द्रव्य को किस दृष्टि से देखें? एक मकान है। हम उसे किस दृष्टि से देखें? सोचें- मकान द्रव्य है या पर्याय? हमारा दृष्टिकोण यह होना चाहिए— मकान एक पर्याय है। हम जो कपड़ा पहने हुए हैं वह एक पर्याय है। जो पर्याय होता है, वह परिवर्तनशील होता है। वैराग्य का विकास परिवर्तन के आधार पर होता है। वैराग्य के विकास का बहुत बड़ा आधार बनता है पर्यायवादी। अभी एक कपड़ा साफ-सुथरा और बढ़िया लग रहा था, किन्तु थोड़ी देर बाद मैला हो जाएगा। कुछ दिनों के बाद वह फट जाएगा और उसके बाद वह समाप्त हो जाएगा। वह क्षणभंगुर है। शरीर की भी यही अवस्था है, पदार्थ की भी यही अवस्था है। एक पदार्थ अभी बहुत अच्छा है, किन्तु कुछ समय के बाद वह बदल जाएगा, बिगड़ जाएगा। इस परिवर्तनवाद के आधार पर वैराग्य का विकास हुआ। शाश्वतवाद के आधार पर वैराग्य जैसी कोई चीज बनती ही नहीं है जो शाश्वत है, जैसा है, वैसा ही रहेगा— इसमें क्या राग होगा, क्या विराग होगा? राग और विराग- दोनों परिवर्तनवाद के आधार बनते हैं।

पर्याय कहां से आता है?

हम परिवर्तन को देखें। व्यक्ति का दृष्टिकोण पहले परिवर्तनवादी होगा। हम पहले द्रव्य तक नहीं पहुंच पाएंगे। हमारी दृष्टि है। जिसे अतीन्द्रिय ज्ञान उपलब्ध हो गया, वह पहले सामान्य तक पहुंच सकता है, मूल द्रव्य तक पहुंच सकता है। किन्तु जिसकी दृष्टि बहुत सीमित है, ज्ञान बहुत सीमित है, वह पर्याय को देखेगा, पर्याय के आधार पर सारा ज्ञान करेगा। हम जितने पदार्थ देखते हैं, देख रहे हैं, वे सबके सब पर्याय हैं। मूल एक भी नहीं है। मूल है परमाणु और परमाणु को जानने की हमारी क्षमता नहीं है।

पर्यायार्थिक नय हमारे सामने स्पष्ट है। प्रश्न उपस्थित किया गया—पर्याय कहां से आता है? उसका उत्स क्या है? गंगा नदी बह रही है, यमुना बह रही है। नदी का प्रवाह है। पीछे से पानी आ रहा है और आगे चला जा रहा है। यह प्रवाह-उत्पाद और व्यय-आ रहा है और जा रहा है। दिल्ली के पास यमुना बह रही है। प्रश्न हो सकता है—क्या यमुना यही है? क्या इसका मूल यही है? पानी कहां से आ रहा है? प्रवाह कहां से आ रहा है? कहां जा रहा है? इस खोज में चलें तो फिर यमुना दिल्ली की नहीं रहेगी। गंगा और यमुना का मूल स्रोत गंगोत्री और यमुनोत्री में खोजना होगा। जहां से गंगा निकली है, यमुना निकली है वहां तक पहुंचना होगा।

मूल की खोज

एक मनुष्य है। प्रश्न होता है—क्या वह मनुष्य ही है? वह मनुष्य से पहले भी कुछ है, उसके बाद भी कुछ है? इस खोज में चलें तो हम द्रव्य तक पहुंचेंगे। जो कपड़ा अभी है, क्या वह पहले भी था, बाद में भी होगा? इस खोज में चलें तो हम परमाणु तक पहुंचेंगे। यह मूल

द्रव्य की खोज आगे की खोज है, सूक्ष्मतम तत्व की खोज है। पर्याय की खोज स्थूलतत्व की खोज है। सामने दिखने वाले पदार्थ की खोज है। हम केवल पर्याय या परिवर्तन पर अटके न रहें, मूल द्रव्य की खोज में आगे बढ़ते चले जाएं, इसके सिवाय कोई गन्तव्य नहीं है।

समाधान है अनेकान्त

यह अनेकान्त का दार्शनिक पक्ष है। हम अनेकान्त की जैन परम्परा के संदर्भ में समीक्षा करें। जैन परम्परा में आज अनेक सम्प्रदाय हैं। उनमें अनेक मतभेद भी हैं। यदि अनेकान्त के आधार पर मतभेद का मूल खोजा जाए, भिन्न विचारों की समीक्षा की जाए तो शायद भेद के लिए कितना बचेगा, मैं कह नहीं सकता। हो सकता है कुछ भी न बचे। किन्तु इस दिशा में बहुत कम काम हुआ है। अनेक प्रसंगों में आग्रह बढ़ाने में रस लिया गया, अनेकान्त का प्रयोग नहीं किया गया। आज हमारे सामने प्रश्न है—जैन समाज को विरासत में जो एक महान् दर्शन मिला है, जगत् को देखने का सम्यक् और व्यापक दृष्टिकोण मिला है, यदि उसका सम्यक् प्रयोग किया जाए तो शायद अनेकान्तवाद पूरे संसार को एक नया दृष्टिकोण और नया दर्शन दे सकता है। अनेकान्तवाद का यह दृष्टिकोण अनेक मिथ्या अभिनिवेशों, आग्रहों को मिटाने और सामंजस्यपूर्ण समाज की संरचना करने में बहुत सहयोगी बन सकता है, उपयोगी हो सकता है।



भारतीय दार्शनिक चिन्तन में अनेकांत

—प्रो. सागरमल जैन

अनेकांतवाद को मुख्यतः जैन दर्शन का पर्याय माना जाता है। यह कथन सत्य भी है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने उसका खण्डन मुख्यतः उसके इसी सिद्धान्त के आधार पर किया है। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि अनेकांतवाद का विकास और तार्किक आधारों पर उसकी पुष्टि जैन दार्शनिकों ने की है। अतः अनेकांतवाद को जैन दर्शन का पर्याय मानना समुचित भी है। किन्तु इसका यह भी अर्थ नहीं है कि अन्य भारतीय दर्शनों में इसका पूर्णतः अभाव है। अनेकांत एक अनुभूत सत्य है और अनुभूत सत्य को स्वीकार करना ही होता है। विवाद या मत-वैभिन्य अनुभूति के आधार पर नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सहारा लेना होता है, किन्तु भाषायी अभिव्यक्ति अपूर्ण, सीमित और सापेक्ष होती है, अतः उसमें मतभेद होता है और उन मतभेदों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करने या उनमें परस्पर विरोधी कथ्यों के बीच समन्वय लाने के प्रयास में ही अनेकांतवाद का जन्म होता है। वस्तुतः अनेकांतवाद या अनैकांतिक दृष्टिकोण का विकास निम्न तीन आधारों पर होता है—

- (1) बहु-आयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में ऐकांतिक विचारों या कथनों का निषेध।
- (2) भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर बहुआयामी वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति।
- (3) परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचार-धाराओं को समन्वित करने का प्रयास।

प्रस्तुत : आलेख में हमारा प्रयोजन इन अवधारणाओं के आधार पर जैनेतर भारतीय चिन्तन में अनैकांतिक दृष्टिकोण कहां-कहां किस रूप में उल्लेखित है, इसका दिग्दर्शन कराना है।

वेदों में प्रस्तुत अनेकांत दृष्टि

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। ऋग्वेद न केवल परमतत्त्व के सत् और असत् पक्षों को स्वीकार करता है अपितु इन के मध्य समन्वय भी करता है। ऋग्वेद¹ में परमतत्त्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई अपितु ऋषि ने यह भी कह दिया कि परम सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार वस्तुतत्त्व की बहु-आयामिता और उसके अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों की युगपत् उपस्थिति की स्वीकृति हमें वेदकाल से ही मिलने लगती है। मात्र इतना ही नहीं, ऋग्वेद का यह कथन—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'² परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए, उनमें समन्वय करने का प्रयास ही तो है। इस प्रकार हमें अनैकांतिक दृष्टि के अस्तित्व के प्रमाण ऋग्वेद के काल से मिलने लगते हैं। यह बात न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा अनैकांतिक दार्शनिक दृष्टि की स्वीकृति की सूचक है अपितु इस सिद्धान्त की त्रैकालिक सत्यता और प्राचीनता की भी सूचक है। चाहे विद्वानों की दृष्टि में सप्तभंगी का विकास एक परवर्ती घटना हो, किन्तु अनेकांत तो उतना ही पुराना है, जितना ऋग्वेद का यह अंश।

ऋग्वैदिक ऋषियों के समक्ष सत्ता या परमतत्त्व के बहुआयामी होने का पृष्ठ खुला हुआ था और यही कारण है कि वे किसी ऐकान्तिक दृष्टि में आबद्ध होना नहीं चाहते हैं। ऋग्वेद³ इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है— नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्रजो न व्योमपरोयत्।

सत्य तो यह है कि उस परम सत्ता को जो समस्त अस्तित्व के मूल में सत्, असत् उभय या अनुभय किसी एक कोटी में आबद्ध करके नहीं कहा जा सकता है। दूसरे शब्दों में उसके सम्बन्ध में जो भी कथन किया जा सकेगा वह भाषा की सीमितता के कारण सापेक्ष ही होगा, निरपेक्ष नहीं। यही कारण है कि वैदिक ऋषि उस परम सत्ता या वस्तुतत्त्व को सत्-असत् न कहना चाहता है, किन्तु प्रकारान्तर से वे उसे सत् भी कहते हैं। यथा—एकं सद् विप्रा वदन्ति और असत् भी कहते हैं। यथा—देवानां पूर्वं युगे असतः सद्जायत, इससे यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनाग्रही अनेकांत दृष्टि के ही सम्पोषक रहे हैं।

औपनिषदिक साहित्य और अनेकांतवाद

न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी इस अनैकांतिक दृष्टि के उल्लेख के अनेक संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनैकांतिकदृष्टि के सन्दर्भों की खोज करते हैं तो उनमें हमें निम्न तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं—

- (1) अलग-अलग सन्दर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।
- (2) ऐकान्तिक विचारधाराओं का निषेध।
- (3) परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलतत्त्व सत् है या असत्? इस समस्या के सन्दर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद्⁴ में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था, उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी विचार धारा की पुष्टि छान्दोग्योपनिषद्⁵ में भी उपलब्ध होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था। उससे सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत्वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत उसी छान्दोग्योपनिषद्⁶ में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् ही था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद्⁷ में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपञ्चात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूल तत्त्व जड़ है या चेतन? इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर बृहदारण्यकोपनिषद्⁸ में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर छान्दोग्योपनिषद्⁹ में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्तं तत्त्व) ही था, दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊं और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि तैत्तिरीयोपनिषद्¹⁰ से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारार्यें प्रस्तुत की गयी हैं। यदि ये सभी विचारधारार्यें सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद को प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है, अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तन में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। पुनः उपनिषदों में हमें ऐसे अनेक संकेत मिलते हैं जहाँ एकान्तवाद का निषेध किया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद्¹¹ में ऋषि कहता है कि वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं है। इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ-साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें उपनिषदों में मिल जाते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्¹² में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त-अमूर्त, वाच्य-अवाच्य, विज्ञान (चेतन)-अविज्ञान (जड़), सत्-असत् रूप है। इसी प्रकार कठोपनिषद्¹³ में उस परम सत्ता को अणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म व महत् की अपेक्षा भी महान् कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः उसी उपनिषद्¹⁴ में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय बताया गया है वहीं दूसरी ओर उसे ज्ञान

का अविषय बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहां अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषद्कारों का अनेकान्त है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्¹⁵ में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्त्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नहीं, यहां परस्पर विरुद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषद्कारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहां हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैन दर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकार करता प्रतीत होता है। मात्र यही नहीं, उपनिषदों में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद्कारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की। जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्त्व में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की एक ही साथ स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं होगी तो उन्होंने इस परमतत्त्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। तैत्तरीय उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नहीं है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह**। इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय, ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें ईशावस्योपनिषद् में मिलता है। उसमें कहा गया है कि— **“अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्”** अर्थात् वह गतिरहित है फिर भी मन से एवं देवों से तेज गति करता है। **“तदेजति तन्नेजति तदूरे तद्वन्तिके अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है, वह दूर भी है, वह पास भी है।”**

इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश हैं, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परमसत्ता के एकत्व-अनेकत्व, जड़त्व-चेतनत्व आदि विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने-अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगीं तब सत्य के गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित दृष्टि अनेकान्त दृष्टि है जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस्म में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थक समाधान प्रस्तुत करती है। इस प्रकार अनेकान्तवाद विरोधों के शमन का एक व्यावहारिक दर्शन है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास करता है।

ईशावास्य में पग-पग पर अनेकान्त जीवन-दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही “**त्येन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य खिद्धनम्**” कहकर त्याग एवं भोग-इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवनदृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवन न तो एकान्त त्याग पर चलता है और न एकान्त भोग पर, बल्कि जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इस प्रकार ईशावास्य सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवन दृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म और अकर्म सम्बन्धी ऐकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए ईशावास्य (2) कहता है कि “**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतां समाः**” अर्थात् मनुष्य निष्कामभाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्कामभाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता अर्थात् वे बन्धनकारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवन-दृष्टि व्यावहारिक जीवन-दृष्टि है। भेद-अभेद का व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करते हुए उसी में आगे कहा गया है कि —

**यस्तु सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषुचात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥¹⁶**

अर्थात् जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और अपनी आत्मा में सभी प्राणियों को देखता है वह किसी से भी घृणा नहीं करता। यहां जीवात्माओं में भेद एवं अभेद दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्त दृष्टि ही परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा को समाप्त करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान)¹⁷ में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म)¹⁸ अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह अन्धकार में प्रवेश करता है और जो विद्या की उपासना करता है वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है¹⁹ और वह, जो दोनों को जानता है या दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्त्व को प्राप्त करता है।²⁰ यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहुआयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व उपनिषदों में भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

सांख्यदर्शन और अनेकांतवाद

भारतीय षट्दर्शनों में सांख्य एक प्राचीन दर्शन है। इसकी कुछ अवधारणाएं हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होती हैं। यह भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं

प्रकृति ऐसे दो मूल तत्त्व मानता है। उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस प्रकार उसके द्वैतवाद में एक तत्त्व परिवर्तनशील और दूसरा अपरिवर्तनशील। इस प्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुण धर्मों से युक्त है। फिर भी उनमें एक सह सम्बन्ध है। पुनः यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में है, जो प्रकृति से अपनी पृथक्ता अनुभूत कर चुका है, सामान्य संसारी जीव/पुरुष में तो प्रकृति के संयोग से अपेक्षा भेद से नित्यत्व और परिणामीत्व दोनों ही मान्य किये जा सकते हैं। पुनः प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी-नित्य मानी गई है अर्थात् उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुणधर्म अपेक्षा भेद से रहे हुए हैं। पुनः त्रिगुण-सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विरोधी हैं, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहे हुए सांख्य दर्शन का सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद या क्रियाशीलता का, तमोगुण विनाश या निष्क्रियता का प्रतीक है। अतः मेरी दृष्टि में सांख्य का त्रिगुणात्मकता का सिद्धान्त और जैन दर्शन का उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मकता का सिद्धान्त एक दूसरे से अधिक दूर नहीं है। सत्ता की बहु-आयामिता और परस्पर विरोधी गुणधर्मों की युगपद् अवस्थिति यही तो अनेकांत है। द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता जैन दर्शन के समान सांख्यां को भी मान्य है। पुनः प्रकृति और विकृति दोनों परस्पर विरोधी है किन्तु सांख्य दर्शन में बुद्धि (महत्), अहंकार और पांच तन्मात्राएं प्रकृति और विकृति दोनों ही माने गये हैं। पुनः निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनों परस्पर विरोधी हैं, किन्तु सांख्य दर्शन में प्रकृति में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुण पाये जाते हैं। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्त्यात्मक और मुक्त पुरुष की अपेक्षा से निवृत्त्यात्मक देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों गुण देखे जाते हैं। यद्यपि मुक्त पुरुष कूटस्थ नित्य है फिर भी संसार दशा में उसमें कर्तृत्व गुण देखा जाता है, चाहे वह प्रकृति के निमित्त क्यों न हो। संसार दशा में पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अकर्तृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व के विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता का समर्थन महाभारत में लिखा गया है—²¹

यो विद्वान् सहसंवासं विवासं चैव पश्यति ।

तथैवैकत्व नानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते ॥

अर्थात् जो विद्वान् जड़-चेतन के भेदोभेद को तथा एकत्व और नानात्व को देखता है वह दुःख से छूट जाता है। जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकांतवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त और क्या हो सकती है। वस्तुतः सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में आत्यान्तिक भेद माने बिना मुक्ति/कैवल्य की अवधारणा सिद्ध नहीं होगी किन्तु दूसरी ओर उन दोनों में आत्यान्तिक भेद मानेंगे तो संसार की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। संसार की व्याख्या के लिए उनमें आंशिक या सापेक्षिक अभेद और मुक्ति की व्याख्या के लिए उनमें सापेक्षिक भेद मानना भी आवश्यक है। पुनः प्रकृति और पुरुष को स्वतंत्र तत्त्व मानकर भी किसी न किसी रूप में उसमें उन दोनों

की पारस्परिक प्रभावकता तो मानी गई है। प्रकृति में जो विकार उत्पन्न होता है वह पुरुष का सान्निध्य पाकर ही होता है। इसी प्रकार चाहे हम बुद्धि (महत्) और अहंकार को प्रकृति का विकार माने किन्तु उनके चैतन्य रूप में प्रतिभाषित होने के लिए उनमें पुरुष का प्रतिबिम्बित होना तो आवश्यक है। चाहे सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति के आश्रित माने फिर भी जड़ प्रकृति के तादात्म्य बुद्धि का कर्ता तो किसी न किसी रूप में पुरुष को स्वीकार करना होगा, क्योंकि जड़ प्रकृति के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा तार्किक दृष्टि से सबल सिद्ध नहीं होती है।

वस्तुतः द्वैतवादी दर्शनों, की चाहे वे सांख्य हो या जैन कठिनाई यह है कि उन दो तत्वों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया या आंशिक तादात्म्य माने बिना संसार और बन्धन की व्याख्या सम्भव नहीं होती है और दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष या स्वतंत्र माने बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नहीं होती है। अतः किसी न किसी स्तर पर उनमें अभेद और किसी न किसी स्तर पर उनमें भेद मानना आवश्यक है। यही भेदाभेद की दृष्टि ही अनेकांत की आधार-भूमि है, जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है। सांख्य दर्शन चाहे बुद्धि, अहंकार आदि को प्रकृति का विकार माने किन्तु संसारी पुरुष को उससे असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता है। योगसूत्र²² भाष्य में कहा गया है—

स पुरुषोबुद्धेः प्रति संवेदी सबुद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्तविरूप इति । न तावत्स्वरूपः कस्मात् ज्ञाता-ज्ञातविषयत्वात् अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपशयो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । अतः प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्व होकर भी उनमें पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया घटित होती है। उन दो तत्वों के बीच भेदा-भेद यह बंधन और मुक्ति की व्याख्याओं का आधार है।

योग दर्शन और अनेकांतवाद

जैन दर्शन में द्रव्य और गुण या पर्याय, दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मी में एकांत अभेद को स्वीकार नहीं करके उनमें भेदाभेद स्वीकार करता है और यही उसके अनेकांतवाद का आधार है। यही दृष्टिकोण हमें योगसूत्र भाष्य में भी मिलता है—²³

न धर्मीत्र्यध्या धर्मास्तु त्र्यध्वान ते लक्षिता-अलक्षिताश्च तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तो ऽन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः । यथैक रेखा शत-स्थाने शतं दशस्थाने दशैकं चैकस्थाने । यथाचैकत्वेपि स्त्री माताचोच्यते दुहिता च स्वसा चेति ।

इसी तथ्य को उसमें इस प्रकार भी प्रकट किया गया है—“यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्त्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम् ।”

इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक ही स्त्री अपेक्षाभेद से माता, पुत्री अथवा सास कहलाती है उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थान्तर को प्राप्त होकर भी वही रहता है। एक स्वर्ण पात्र को तोड़कर जब कोई अन्य वस्तु बनाई जाती है तो उसकी अवस्था

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001 21

बदलती है किन्तु स्वर्ण वही रहता है अर्थात् नहीं बदलता है, किन्तु अवस्था बदलती है। यही सत्ता का नित्यानित्यत्व या भेदाभेद है जो जैन दर्शन में अनेकांतवाद का आधार है। इस भेदाभेद को आचार्य वाचस्पति मिश्र इसी स्थल की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखते हैं— अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदो व्यवस्थापयन्ति।

मात्र इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र तो स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निरसन करके अनेकांतवाद की स्थापना करते हैं। वे लिखते हैं—

नह्यैकान्तिकेऽभेदे धर्मादीनां धर्मिणो, धर्मोरूपवद् धर्मादित्वं नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्चवद् धर्मादित्वं स चानुभवोऽनेकान्तिकत्वमस्थापयन्नपि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकेष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्माश्च परस्परतो व्यवर्तयन् प्रत्यात्मनुभूतयत इति। एकान्त का निषेध और अनेकांत की पुष्टि का योगदर्शन में इससे बड़ा कोई और प्रमाण नहीं हो सकता है।

योग दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है योगसूत्र²⁴ में कहा गया है—

सामान्य विशेषात्मनोऽर्थस्य। इसी बात को किञ्चित् शब्दभेद के साथ विभूतिपाद²⁵ में भी कहा गया है— सामान्य विशेष समुदायोऽत्र द्रव्यम्। मात्र इतना ही नहीं, योगदर्शन में द्रव्य की नित्यता अनित्यता को उसी रूप में स्वीकार किया गया है जिस रूप में अनेकांत दर्शन में। महाभाष्य के पशपशाह्निक में प्रतिपादित है कि द्रव्यनित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्ण कयाचिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रूचकाः क्रियन्ते, रूचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते...आकृतिरन्याद्यान्याभवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमृदेन द्रव्यमेवावशिष्यते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य और योगदर्शन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकांत दृष्टि अनुस्यूत है।

वैशेषिक दर्शन और अनेकांत

वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ में तीन पदार्थ की कल्पना की गई, वे हैं द्रव्य, गुण और कर्म, जिन्हें हम जैन दर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। यद्यपि वैशेषिक दर्शन भेदवादीदृष्टि से इन्हें एक दूसरे से स्वतन्त्र मानता है, फिर भी उसे इनमें आश्रय-आश्रयीभाव तो स्वीकार करना ही पड़ता है। ज्ञातव्य है कि जहां आश्रय-आश्रयी भाव होता है, वहां उनमें कथंचित या सापेक्षिक सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है। उन्हें एक दूसरे से पूर्णतः निरपेक्ष या स्वतंत्र नहीं कहा जा सकता है। चाहे वैशेषिक दर्शन उन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र कहे, फिर वे असम्बद्ध नहीं हैं। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक् गुण और द्रव्य और गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यही उनका भेदाभेद है, अनेकांत है।

पुनः वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गये हैं। उनमें भी सामान्य के दो भेद किये— सामान्य और अपर सामान्य। पर सामान्य को ही सत्ता

भी कहा गया है, वह शुद्ध अस्तित्व है, सामान्य है किन्तु जो अपर सामान्य है वह सामान्य-विशेष रूप है। द्रव्य, गुण और कर्म अपर सामान्य हैं और अपर सामान्य होने से सामान्य-विशेष उभय रूप हैं। वैशेषिक सूत्र²⁶ में कहा भी गया है—

द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद सामान्य विशेष उभय रूप मानना यही तो अनेकांत है। द्रव्य किस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है, इसे स्पष्ट करते हुए²⁷ कहा गया है—

सामान्यं विशेषं इति बुद्ध्यपेक्षम्। सामान्य और विशेष यह ज्ञान बुद्धि या विचार की अपेक्षा से है। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार प्रशस्तपाद कहते हैं—

द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति। द्रव्यत्व पृथ्वी नामक द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। दूसरे शब्दों में एक ही वस्तु अपेक्षाभेद से सामान्य और विशेष दोनों ही कही जा सकती है। अपेक्षाभेद से वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों को स्वीकार करना यही तो अनेकांत है। उपस्कार कर्ता ने तो स्पष्टतः कहा है, सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते अर्थात् वस्तु केवल सामान्य अथवा केवल विशेष रूप न होकर सामान्य-विशेष रूप है और इसी तथ्य में अनेकांत की प्रस्थापना है।

पुनः वस्तु सत्-असत् रूप है, इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्याभाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं—

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्।²⁸ व्याख्या में उपस्कार कर्ता ने जैन दर्शन के समान ही कहा है—

यत्र सदेव घटादि असदितिव्यवहियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असनश्वो गवात्मना असन् गौरश्वरात्मना, असन् पटो घटात्मना इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और पर स्वरूप की अपेक्षा नास्तिरूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना यही तो अनेकांत है जो वैशेषिकों को भी मान्य है। अस्तित्व नास्तिरूप पूर्वक और नास्तिरूप अस्तित्व पूर्वक है।

न्यायदर्शन और अनेकांत

न्यायदर्शन में न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने²⁹ अनेकांतवाद का आश्रय लिया है। वे लिखते हैं—

एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बाधव्यं, यत्र तु धर्मो सामान्यगतो विरुद्धौधर्मो हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः इत्यादि— अर्थात् जब एक ही धर्मो में विरुद्ध अनेक धर्म विद्यमान हो तो विचार पूर्वक ही निर्णय लिया जाता है, किन्तु जहां धर्मो सामान्य में (अनेक) धर्मो की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो, वहां पर तो उसे समुच्चय रूप

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त ही मानना चाहिए, क्योंकि वहां पर तो वस्तु उस ही रूप में सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यदि दो धर्मों में आत्यान्तिक विरोध नहीं है और वे सामान्य रूप से एक ही वस्तु में अपेक्षाभेद से पाये जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में न्याय दर्शन को आपत्ति नहीं है।

इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानकर जाति को भी सामान्य विशेषात्मक माना गया है। भाष्यकार वात्स्यायन³⁰ लिखते हैं— यच्च केषांचिदभेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्य विशेषो जातिरिति।

यह सत्य है कि जाति सामान्य रूप भी है, किन्तु जब वह पदार्थों में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद करती है तो वह जाति सामान्य-विशेषात्मक होती है। यहां जाति को, जो सामान्य की वाचक है, सामान्य विशेषात्मक मानकर अनेकांतवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकांतवाद व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का अन्तर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति की और जाति के बिना व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है। उनमें कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद है। सामान्य में विशेष और विशेष में सामान्य अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं, यही तो अनेकांत है।

सत्ता सत्-असत् रूप है। यह बात भी न्याय दर्शन में कार्य कारण की व्याख्या के प्रसंग में प्रकारान्तर से स्वीकृत है। पूर्वपक्ष के रूप में³¹ यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को न तो सत् कहा जा सकता है, न असत् ही कहा जा सकता है और न उभय रूप ही कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है (नासन्न सन्नसदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात्।)

इसका उत्तर टीका में विस्तार से दिया गया है। किन्तु हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में उनके उत्तर पक्ष को प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि कार्य उत्पत्ति पूर्व कारण रूप से सत् है? क्योंकि कारण के असत् होने से कोई उत्पत्ति ही नहीं होगी। पुनः कार्य रूप से वह असत् भी है, क्योंकि यदि सत् होता तो फिर उत्पत्ति का क्या अर्थ होता, अतः उत्पत्ति पूर्व कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् होता है इस प्रकार कार्य उत्पत्ति, पूर्व सत्-असत् उभय रूप है, यह बात बुद्धि सिद्ध है। (विस्तृत विवेचना के लिए देखें न्यायसूत्र (4/1/48-50) की वैदिकमुनि हरिप्रसाद स्वामी की टीका)

मीमांसा दर्शन और अनेकांतवाद

जिस प्रकार अनेकांतवाद के सम्पोषक जैन-धर्म में वस्तु को उत्पाद-व्यय-धौव्यात्मक माना है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में भी सत्ता को त्रयात्मक माना है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश तो धर्मों के है, धर्मों तो नित्य है। उन उत्पत्ति और विनाश के भी पूर्व है अर्थात् नित्य है। वस्तुतः जो बात जैनदर्शन में द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता की अपेक्षा से कही गई है, वही बात धर्मों और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है। यहां पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं कुमारिल भट्ट³² लिखते हैं—

1. वर्द्धमानक भंगे च रूचक क्रियते यद् ।
तदा पूर्वार्थिन शोकः प्रीतिश्चाभ्युत्तरार्थिनः ॥
2. हेमर्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद्वस्तु भयात्मकम् ।
नोत्पाद स्थिति भंगानामभावे स्यान्मतित्रयम् ।
3. न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन बिना सुखम् ।
स्थित्या बिना न माध्यास्थ्यं तेन सामान्य नित्यता ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की जो स्थापना जैन दर्शन में है। वही बात शब्दान्तर से उत्पत्ति-विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन ने कही है। कुमारिल भट्ट के द्वारा पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थितियुक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को पृष्ठ करते हैं कि उनके दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकांत के तत्त्व उपस्थित रहे हैं। श्लोकवार्तिक वनवाद³³ में तो वे स्वयं अनेकांत की प्रमाणिकता सिद्ध करते हैं—

वस्त्वनेकवादाच्च न संदिग्धा प्रमाणता । ज्ञानं संदिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता ॥
इहानैकांतिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम् ।

इसी अंश की टीका में पार्थसार मिश्र ने भी स्पष्टतः अनेकांतवाद शब्द का प्रयोग किया है। यथा— ये चैकान्तिकं भेदमभेदं वाऽवयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकांतवाद ।

मात्र इतना ही नहीं, उसमें वस्तु को स्व-स्वरूप की अपेक्षा सत्, पर स्वरूप की अपेक्षा असत् और उभय रूप से सदासत् रूप माना गया है। यथा—

सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घट रूपेण सत्, पटरूपेण ऽसन्...।³⁴

यहां कुछ ही सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं। यदि भारतीय दर्शनों के मूल ग्रन्थों और उनकी टीकाओं का सम्यक् परिशीलन किया जाये तो ऐसे अनेक तथ्य परिलक्षित होंगे जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकांत दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकांत एक अनुभूत्यात्मक सत्य है। उसे नकारा नहीं जा सकता है। अन्तर मात्र उसके प्रस्तुतीकरण की शैली का होता है।

वेदान्त दर्शन और अनेकांतवाद

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन वस्तुतः एक दर्शन नहीं, अपितु दर्शन समूह वाचक है। ब्रह्मसूत्र को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ वे सभी इस वर्ग में समाहित किये जाते हैं। इसके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। नैकस्मिन्न संभवात् (ब्रह्म सूत्र 2/2/33) की व्याख्या करते हुए इन सभी दार्शनिकों ने जैन दर्शन के अनेकांतवाद की समीक्षा की है। मैं यहां उनकी समीक्षा कितनी उचित है या अनुचित है, इस

चर्चा में नहीं जाना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने कमोवेश रूप में शंकर का ही अनुसरण किया है। यहाँ मेरा प्रयोजन मात्र यह दिखाना है कि वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि में किस प्रकार अनेकांतवाद का सहारा लेते हैं।

आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुणों को स्वीकारते हैं। वे लिखते हैं³⁶—

**ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्, सर्व शक्तिमत्त्वात्
महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्यते ।**

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्, क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो फिर मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् और न असत्, न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न। यहां अनेकांतवाद जिस बात को विधिमुख से कह रहा है शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं। अद्वैतवाद की कठिनाई यही है। वह माया की स्वीकृति के बिना जगत की व्याख्या नहीं कर सकता है और माया को सर्वथा असत् या सर्वथा सत् अथवा ब्रह्म से सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह परमार्थ के स्तर पर असत् और व्यवहार के स्तर पर सत् है। यहीं तो उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में अनेकांत का दर्शन होता है। शंकर इन्हीं कठिनाइयों से बचने हेतु माया को जब अनिर्वर्चनीय कहते हैं, तो वे किसी न किसी रूप में अनेकांतवाद को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त भी ब्रह्मसूत्र पर टीका लिखने वाले अनेक आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में अनेकांत दृष्टि को स्वीकार किया है। महामति भास्कराचार्य³⁶ लिखते हैं—

**यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति,
तदभिधीयते अनिरूपित प्रमाण प्रमेय तत्त्वस्येदं चोद्यम् ।
अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेतिस्थितम्**

संग्रह श्लोक—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना ।

हेमात्मना यथाऽभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा ॥ (पृ. 16-17)

यद्यपि यह कहा जाता है कि भेद-अभेद में विरोध है किन्तु यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो प्रमाण-प्रमेय तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है।

इस कथन के पश्चात् अनेक तर्कों से भेदाभेद का समर्थन करते हुए अन्त में कह देते हैं कि अतः ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है, यह सिद्ध हो गया। कारण रूप में वह अभेद रूप है और कार्य रूप में वह नाना रूप है, जैसे स्वर्ण कारण रूप में एक है, किन्तु कुण्डल आदि कार्यरूप में अनेक।

यह कथन भास्कराचार्य को प्रकारान्तर से अनेकांतवाद का सम्पोषक ही सिद्ध करता है। अन्यत्र भी 'भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समधिगत'³⁷ कहकर उन्होंने अनेकांत दृष्टि का ही पोषण किया है।

भास्कराचार्य के समान यति प्रवर विज्ञान भिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य लिखा है, उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न केवल पोषण करते हैं, अपितु अपने मत की पुष्टि में कर्मपुराण, नारद पुराण, स्कन्द पुराण आदि से सन्दर्भ भी प्रस्तुत करते हैं।³⁸ यथा—

**त एते भगवद्रूपं विश्वं सदासदात्कम् ।
चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्यमादि सकलं जगत् ॥
असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षया ॥**³⁹

ये सभी सन्दर्भ अनेकांत के सम्पोषक हैं यह तो स्वतः सिद्ध है। इसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने भी अपनी ब्रह्मसूत्र की वेदान्त पारिजात सौरभ नामक टीका में तत्तुसमन्वयात् (1/1/4) की टीका करते हुए लिखा है— सर्वभिन्ना भिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति ।

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी ब्रह्मसूत्र के श्री⁴⁰ में लिखते हैं—

**सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि च ।
अनन्तमूर्तिं तद् ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च ॥**

विरुद्ध सर्वधर्माणां आश्रयं युक्त्यगोचरं । अर्थात् वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ भी है और चल (परिवर्तनशील) भी है, उसमें सभी वादों के लिए अवसर (स्थान) है, वह अनेक वादों का अनुरोधी है, सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है और युक्ति से अगोचर है।

यहाँ रामानुजाचार्य जो बात ब्रह्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं, प्रकारान्तर से अनेकान्तवादी जैन दर्शन तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल वेदान्त में अपितु ब्राह्मण परम्परा में मान्य छहों दर्शनों के दार्शनिक चिन्तन में अनेकांतवादी दृष्टि अनुरस्यूत है।

श्रमण परम्परा का दार्शनिक चिन्तन और अनेकांत

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में श्रमण परम्परा के दर्शन न केवल प्राचीन है, अपितु वैचारिक उदारता अर्थात् अनेकांत के सम्पोषक भी रहे हैं। वस्तुतः भारतीय श्रमण परम्परा का अस्तित्व औपनिषदिक काल से भी प्राचीन है, उपनिषदों में श्रमणधारा और वैदिक धारा का समन्वय देखा जा सकता है। उपनिषद्-काल में दार्शनिक चिन्तन की विविध धाराएं अस्तित्व में आ गई थी, अतः उस युग के चिन्तकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि इनके एकांगी दृष्टिकोण का निराकरण इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाये। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन विचारक आते हैं— संजय वेलङ्गी पुत्र, गौतमबुद्ध और वर्द्धमान महावीर ।

संजय वेलट्टीपुत्त और अनेकांत

संजय वेलट्टीपुत्त बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में एक थे। उन्हें अनेकांतवाद सम्पोषक इस अर्थ में माना जा सकता है कि वे एकांतवादों का निरसन करते थे। उनके मन्तव्य का निर्देश बौद्धग्रन्थों में इस रूप में पाया जाता है—

- (1) है? नहीं कहा जा सकता।
- (2) नहीं है? नहीं कहा जा सकता।
- (3) है भी और नहीं भी? नहीं कहा जा सकता।
- (4) न है और न नहीं है? नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ से यह फलित है कि किसी भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। एकान्तवाद का निरसन अनेकांतवाद का प्रथम आधार बिन्दु है और इस अर्थ में उन्हें अनेकांतवाद के प्रथम चरण का सम्पोषक माना जा सकता है। यही कारण रहा होगा कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान दिया कि संजय वेलट्टीपुत्त के दर्शन के आधार पर जैनो ने स्याद्वाद (अनेकांतवाद) का विकास किया। किन्तु उसका यह प्रस्तुतीकरण वस्तुतः उपनिषदों के सत्, असत्, उभय (सत्-असत्) और अनुभय का ही निषेध रूप से प्रस्तुतीकरण है। इसमें एकान्त का निरसन तो है, किन्तु अनेकांत स्थापना नहीं है। संजय वेलट्टीपुत्त की यह चतुर्भुगी किसी रूप में बुद्ध के एकांतवाद के निरसन की पूर्वपीठिका है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन और अनेकांतवाद

भगवान् बुद्ध का मुख्य लक्ष्य अपने युग के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों का निरसन करना था, अतः उन्होंने विभाज्यवाद को अपनाया। विभज्यवाद प्रकारान्तर से अनेकांतवाद का ही पूर्व रूप है। बुद्ध और महावीर दोनों ही विभज्यवादी थे। सूत्रकृतांग⁴¹ में भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करे (विभज्जवायं वियणरेज्जा) अर्थात् किसी भी प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं दे। बुद्ध स्वयं अपने को विभज्यवादी कहते थे। विभज्यवाद का तात्पर्य है प्रश्न का विश्लेषण पूर्वक सापेक्ष उत्तर देना। अंगुत्तर निकाय में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार शैलियां वर्णित हैं—

(1) एकांशवाद अर्थात् सापेक्षिक उत्तर देना (2) विभज्यवाद अर्थात् प्रश्न का विश्लेषण करके सापेक्षिक उत्तर देना (3) परिप्रश्न पूर्वक उत्तर देना और (4) मौन रह जाना (स्थापनीय) अर्थात् जब उत्तर देने में एकान्त में पड़ना पड़े वहाँ मौन रह जाना। हम देखते हैं कि एकान्त से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या फिर विभज्याद को अपनाया। उनका मुख्य लक्ष्य यही रहा कि परम तत्त्व या सत्ता के सम्बन्ध में शाश्वतवाद, उच्छेदवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से किसी को स्वीकार नहीं करना। त्रिपिटक में ऐसे अनेक सन्दर्भ हैं, जहाँ भगवान् बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया, क्या आत्मा और शरीर अभिन्न है? वे कहते हैं, मैं ऐसा नहीं कहता। फिर जब यह पूछा गया, क्या आत्मा और शरीर भिन्न है? उन्होंने कहा, मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। जब उसने यह पूछा

गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? तो उन्होंने अनेकांत शैली में कहा कि यदि गृहस्थ और त्यागी मिथ्यावादी हैं तो आराधक नहीं हो सकते । यदि दोनों सम्यक् आचरण करने वाले हैं तो वे आराधक हो सकते हैं⁴² इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने पूछा, भगवन् सोना अच्छा या जागना? तो उन्होंने कहा, कुछ का सोना अच्छा है, कुछ का जागना । पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्मा का जागना । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भिक बौद्ध धर्म में एकान्तवाद का निरसन और विभज्यवाद के रूप में अनेकांतदृष्टि का समर्थन देखा जाता है ।

यदि बुद्ध और महावीर के दृष्टिकोण में कोई अन्तर देखा जाता है तो वह यही कि बुद्ध ने एकान्तवाद के निरसन पर अधिक बल दिया । उन्होंने या तो मौन रहकर या फिर विभज्यवाद की शैली को अपना कर एकान्तवाद से बचने का प्रयास किया । बुद्ध की शैली प्रायः निरसन या निषेधपरक रही, परिणामतः उनके दर्शन का विकास शून्यवाद में हुआ, जबकि महावीर की शैली विधानपरक रही, अतः उनके दर्शन का विकास अनेकांत या स्याद्वाद में हुआ ।

स्याद्वाद और शून्यवाद

बौद्ध दार्शनिक चेतना का विकास शून्यवाद के रूप में देखा जाता है, किन्तु हमें स्मरण रखना होगा कि शून्यवाद और स्याद्वाद का विकास विभज्यवाद से ही हुआ है । भगवान बुद्ध ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों को अस्वीकार कर अपने मार्ग को मध्यम प्रतिपदा कहा और महावीर ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार कर अपने मार्ग को अनैकान्तिक बताया । बौद्ध परम्परा में विकसित मध्यम प्रतिपदा या शून्यवाद और जैन परम्परा में विकसित अनेकांतवाद या स्याद्वाद दोनों का लक्ष्य एकान्तिक दार्शनिक अवधारणाओं की अस्वीकृति ही था । दोनों में फर्क इतना ही है । जहां शून्यवाद एक निषेध प्रधानशैली को अपनाता है, वहां स्याद्वाद एक विधानपरक शैली को अपनाता है । शून्यवाद के प्रमुख ग्रन्थ माध्यमिक कारिका के प्रारम्भ में ही नागार्जुन लिखते हैं—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।

अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥

यः प्रतीत्य समुत्पादं प्रपंचोपशमं शिवम् ।

देशयामास संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥

प्रस्तुत कारिका का तात्पर्य यही है कि वह परमसत्ता न तो विनाश को प्राप्त होती है और न उसका उत्पाद होता है, वह उच्छिन्न भी नहीं होती और वह शाश्वत भी नहीं होती । वह एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं है। उसका आगम भी नहीं है और उसका निर्गम भी नहीं है । इसी बात को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा गया है⁴³—

न सद नासद् न सदसत् न चानुभयात्मकम् ।

चतुष्कोटि विनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका विदु ॥

अर्थात् परम तत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न सत्-असत् दोनों नहीं है। यही बात प्रकारान्तर से विधिमुख शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है—

**यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं
यदेवसत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।**

अर्थात् जो तत् रूप है, वही अतत् रूप भी है, जो एक है, वही अनेक भी है, जो सत् है, वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है।

उपरोक्त प्रतिपादनों में निषेधमुख शैली और विधिमुख शैली का अन्तर अवश्य है, किन्तु तात्पर्य में इतना अन्तर नहीं है, जितना समझा जाता है। एकान्तवाद का निरसन दोनों का उद्देश्य है। शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद निषेधात्मक और विधानात्मक शैली का है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही देखते हैं। किन्तु जहां शून्यवादी उस एकान्त के दोष के भय से उसे अस्वीकार कर देता है, वहां अनेकांतवादी उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करता है।

शून्यवाद तत्त्व को चतुष्टकोटि विनिर्मुक्त शून्य कहता है तो स्याद्वाद उसे अनन्तधर्मात्मक कहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि शून्य और अनन्त का गणित एक ही जैसा है। शून्यवाद जिसे परमार्थ सत्य और लोकसंवृत्ति सत्य कहता है उसे जैन दर्शन निश्चय और व्यवहार कहता है। तात्पर्य यह है कि अनेकांतवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है।

उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकांतिक दृष्टि रही हुई है। चाहे उन्होंने अनेकांत के सिद्धान्त को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में ग्रहण न कर उसकी खुलकर समालोचना की हो। वस्तुतः अनेकांत एक सिद्धान्त नहीं, एक पद्धति है और फिर चाहे कोई भी दर्शन हो, बहुआयामी परमतत्त्व की अभिव्यक्ति के लिए उसे इस पद्धति को स्वीकार करना ही होता है। चाहे हम सत्ता को निरपेक्ष मान लें और यह भी मान लें कि उसकी निरपेक्ष अनुभूति भी सम्भव है किन्तु निरपेक्ष अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। चाहे निरपेक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति का जब भी भाषा के माध्यम से कोई प्रयत्न किया जाता है, वह सीमित और सापेक्ष बन कर रह जाती है। अनन्त धर्मात्मक परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का जो भी प्रयत्न होगा वह तो सीमित और सापेक्ष ही होगा। एक सामान्य वस्तु का चित्र भी जब बिना किसी कोण के सम्भव नहीं है तो फिर उस अनन्त और अनिर्वचनीय के निर्वचन का दार्शनिक प्रयत्न अनेकांत की पद्धति को अपनाये बिना कैसे सम्भव है। यही कारण है कि चाहे कोई भी दर्शन हो, उसकी प्रस्थापना के प्रयत्न में अनेकांत की भूमिका अवश्य निहित है और यही कारण है कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन की पृष्ठभूमि में अनेकांत का दर्शन रहा है।

सभी भारतीय किसी न किसी रूप में अनेकांत को स्वीकृति देते हैं, इस तथ्य का

निर्देश आचार्य यशोविजय ने आध्यात्मोपनिषद् में किया है। हम प्रस्तुत आलेख का उपसंहार उन्हीं के शब्दों में करेंगे—

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिक वदन् । योगोविशेषको वापि नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ॥
 विज्ञानस्यमैकाकारं नानाकार करन्वितम् । इच्छंस्तथागतः प्राज्ञो नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ॥
 जातिवाक्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम् । भाट्टो वा मुरारिर्वा नानेकांतं प्रतिक्षिपेत् ॥
 अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः । ब्रुवाणो ब्रह्मवेदान्ती नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥
 ब्रुवाण भिन्न-भिन्नार्थन् नयभेद व्यपेक्षया । प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकं ॥

सन्दर्भ ग्रन्थ :

- | | |
|------------------------------|--|
| 1. नासदीयसूक्त 10/121 | 22. योगसूत्र, साधनापाद सूत्र 20 |
| 2. ऋग्वेद 1/164/46 | 23. योगसूत्र विभूतिपाद 13 का भाष्य |
| 3. नासदीय सूक्त 10/121/1 | 24. योगसूत्र - समाधिपाद का सूत्र 7 |
| 4. तैत्तिरीयोपनिषद् 2.7 | 25. विभूतिपाद, सूत्र 44 |
| 5. छान्दोग्योपनिषद् 3/19/1 | 26. वैशेषिक सूत्र 1/2/5 |
| 6. वही, 6:2:1, 3 | 27. वैशेषिक सूत्र 9/2/3 |
| 7. बृहदारण्यकोपनिषद् 1:4:1-4 | 28. वैशेषिक सूत्र 9/9/4-5 |
| 8. वही, 2:4:12) | 29. न्यायसूत्र 1/1/41 के भाष्य |
| 9. छान्दोग्योपनिषद् 6:2:1,3 | 30. न्याय सूत्र 2/2/66 की टीका |
| 10. तैत्तिरीयोपनिषद् 2 : 6 | 31. न्यायसूत्र 4/1/48/50 |
| 11. बृहदारण्यकोपनिषद् 3:8:8 | 32. मीमांसा श्लोक वार्तिक (21-23) |
| 12. तैत्तिरीयोपनिषद् 2:6 | 33. वही, श्लोक 75-80 |
| 13. कठोपनिषद् 1:20 | 34. अभाव प्रकरण टीका |
| 14. उपनिषद् 3:12 | 35. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य 2/2/4 |
| 15. श्वेताश्वतरोपनिषद् 1.7 | 36. ब्रह्मसूत्र के तत्तु समन्वयात् 1/1/4 सूत्र की टीका |
| 16. ईशावास्य 6 | 37. वही 2/1/22 टीका पृ 164 |
| 17. वही 10 | 38. विज्ञानामृत भाष्य, पृ. 111 |
| 18. वही 12 | 39. वही पृष्ठ 63 |
| 19. वही 9 | 40. ब्रह्मसूत्र का भाष्य पृ. 115 |
| 20. वही 11 | 41. सूत्रकृतांग 1/1/4/22 |
| 21. आश्वमेधिक, अनुगीता 35वां | 42. मज्झिम निकाय 19 |
| अध्ययन 17वां श्लोक | 43. माध्यमिक कारिका 213 |

35 ओसवालसेरी

शाजापुर (म.प्र.)-465 001

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

31

क्या वेदान्त को अनेकान्त किसी अंश में स्वीकार्य हो सकता है?

—डॉ. दयानन्द भार्गव

जिन दार्शनिकों ने अनेकान्त का खण्डन किया उनमें बौद्ध और वेदान्ती मुख्य हैं। प्रस्तुत लेख में हम यह विचार करेंगे कि यद्यपि आचार्य शंकर से लेकर डॉ. राधाकृष्णन तक वेदान्त के आचार्यों ने अनेकान्तवाद का खण्डन किया है तथापि क्या वेदान्त दर्शन की दृष्टि में अनेकान्तवाद सर्वथा अस्वीकार्य है अथवा किन्हीं अंशों में वेदान्त को भी अनेकान्त स्वीकार्य है अथवा स्वीकार्य हो सकता है? हम यह भी विचार करेंगे कि यदि वेदान्त को भी किन्हीं अंशों में अनेकान्त सिद्धान्ततः स्वीकार्य हो सकता है तो व्यावहारिक स्तर पर इस स्थिति का क्या लाभ उठाना सम्भव है?

1. वेदान्तदर्शन श्रोत दर्शन होने के नाते श्रुति को परम प्रमाण मानता है। विचारणीय बिन्दु यह है कि श्रुति अनेकान्त के प्रति खण्डनात्मक दृष्टि रखती है अथवा मण्डनात्मक दृष्टि अथवा श्रुति का अनेकान्त के प्रति माध्यस्थभाव है। हम अपनी खोज के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि श्रुति का अनेकान्त के प्रति मण्डनात्मक दृष्टिकोण है।
2. जैन दर्शन के प्रामाणिक व्याख्याता आचार्य महाप्रज्ञ ने अनेकान्त के चार नियम माने हैं। निम्न तालिका में हम इन चार नियमों की आचार्य महाप्रज्ञ द्वारा दी गई व्याख्या देंगे और उसके साथ ही इन्हीं चार नियमों की श्रुति में दी गई व्याख्या भी देंगे। इस तालिका से यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार श्रुति अनेकान्त के प्रति मण्डनात्मक दृष्टिकोण रखती है : —

प्रथम नियम : सामान्य और विशेष का अविनाभाव

आचार्य महाप्रज्ञ कृत व्याख्या	श्रुति में प्रदत्त व्याख्या
<p>‘अनेकान्त का पहला नियम है— सामान्य और विशेष का अविनाभाव— इसका फलित है कि द्रव्य रहित पर्याय और पर्याय रहित द्रव्य सत्य नहीं है।’¹</p>	<p>‘मृत्यु में अमृत तथा अमृत में मृत्यु निहित है— अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्² । मृत्यु नाश का वाचक होने के नाते पर्याय को सूचित करती है तथा अमृत ध्रुवता का वाचक होने के नाते द्रव्य को सूचित करता है। श्रुति का कहना है कि इन दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है।’</p>

द्वितीय नियम : नित्य और अनित्य का अविनाभाव

आचार्य महाप्रज्ञ कृत व्याख्या	श्रुति में प्रदत्त व्याख्या
<p>‘अनेकान्त का दूसरा नियम है— नित्य और अनित्य का अविनाभाव— जैन तार्किकों ने इसकी समीक्षा की। उन्होंने प्रतिपादित किया— इन्द्रियजगत् असत्य नहीं है। सत्य वह है जिसमें अर्थक्रियाकारित्व होता है।’³</p>	<p>नाम और रूप सत्य है — नामरूपे सत्यम्⁴ । ये नामरूप अभ्व हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं— तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद्रेपेण चैव नाम्ना च... द्वे हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे⁵ अभ्व का शब्दार्थ है जो हो भी और न भी हो - भूत्वापि न भवति । यह पर्याय है किन्तु ‘नामरूपे सत्यम्’ की श्रुति के अनुसार यह मिथ्या नहीं है अपितु सत्य है। अभ्व का प्रतिपक्षी आभु है, जिसका शब्दार्थ है जो सब में ओतप्रोत रहे— आसमन्तात् भवति । सब पर्यायों में ओतप्रोत रहने वाला ध्रुव द्रव्य अंश आभु है।</p>

तृतीय नियम : अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव

आचार्य महाप्रज्ञ-कृत व्याख्या	श्रुति में प्रदत्त व्याख्या
<p>‘अनेकान्त का तीसरा नियम है— अस्तित्व और नास्तित्व का अविनाभाव। अनेकान्त ने इसकी खोज की और उसने पाया कि अस्तित्व और नास्तित्व—दोनों एक साथ होते हैं। प्रतिषेध शून्यविधि और विधिशून्य प्रतिषेध कभी नहीं होता। विधि भी द्रव्य का धर्म है और प्रतिषेध भी द्रव्य का धर्म है। अस्तित्व विधि है और नास्तित्व प्रतिषेध है।’⁶</p>	<p>मनीषियों ने सत् का सम्बन्ध असत् में खोजा—सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषा⁷ सत् और असत् दोनों का परम तत्त्व में सहअस्तित्व है— असच्च सच्च परमे व्योमन्⁸ ।</p>

चतुर्थ नियम : वाच्य और अवाच्य का अविनाभाव

आचार्य महाप्रज्ञ-कृत व्याख्या	श्रुति में प्रदत्त व्याख्या
<p>'अनेकान्त का चौथा नियम है—वाच्य और अवाच्य का अविनाभाव। वाच्य अवाच्य का अविनाभावी है और अवाच्य वाच्य का अविनाभावी है। द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक है। एक क्षण में युगपत् अनन्त धर्मात्मक है। एक क्षण में युगपत् अनन्त धर्मों का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, आयु और भाषा की सीमा होने के कारण, कभी भी नहीं किया जा सकता। इस समग्रता की अपेक्षा से द्रव्य अवाच्य है। एक क्षण में एक धर्म का प्रतिपादन किया जा सकता है। अनेक क्षणों में अनेक धर्मों का भी प्रतिपादन किया जा सकता है। इस आंशिक अपेक्षा से द्रव्य वाच्य है।'⁹</p>	<p>परिमित निर्वचनीय है, अपरिमित अनिर्वचनीय है। प्रजापति परिमित भी है और अपरिमित भी, इसलिए वह निर्वचनीय भी है और अनिर्वचनीय भी। उभयं वा एतत्प्रजापति-निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च परिमितञ्चापरितञ्च। निरुक्त परिमितमनिरुक्तमपरिमितम्।¹⁰</p>

3. ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि श्रुति इस प्रकार अनेकान्तवाद का समर्थन करती है तो आचार्य शंकर जैसे मनीषी अनेकान्तवाद का खण्डन क्यों करते हैं? उत्तर यह है कि उपर्युक्त तालिका में जो श्रुति उद्धृत की गई है वे मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग ही हैं। आचार्य शंकर के अनुसार श्रुति के इन दोनों भागों का सम्बन्ध कर्मकाण्ड से है। ज्ञानकाण्ड के क्षेत्र में यह अद्वैत को मान्यता देता है— भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
4. ज्ञान का सम्बन्ध पारमार्थिक सत्ता से है। वेदान्त के अनुसार पारमार्थिक सत्ता देशकालाद्यनवच्छिन्न है। अतः वहां सापेक्षता और उस पर आधृत अनेकान्तवाद लागू नहीं होता। अतः श्रुति के ज्ञान काण्ड में अनेकान्तवाद स्वीकार्य नहीं हो सकता।
5. वेदान्त में प्रस्थानत्रयी मान्य है। प्रस्थानत्रयी में से ब्रह्मसूत्र के 'नैकस्मिन्न-सम्भवात्'¹¹ सूत्र पर भाष्य करते समय शंकराचार्य कहते हैं कि एक ही समय में एक धर्मों में सत् और असत् जैसे विरुद्ध धर्मों का समावेश सम्भव नहीं है। अतः अनेकान्तवाद को स्वीकार नहीं किया जा सकता।
6. इस सूत्र पर भाष्य करते समय आचार्य शंकर ने कुछ अन्य आपत्तियां भी की हैं। उन आपत्तियों का तथा कुछ अन्य आपत्तियों का समाधान आचार्य हेमचन्द्र

प्रभृति अन्य आचार्यों ने किया है। हम इस विषय की चर्चा अन्यत्र कर चुके हैं। यहां तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि हम इस सम्बन्ध में डॉ. सतकड़े मुखर्जी की इस राय से सहमत हैं कि यदि हमारा विश्वास अनुभव सापेक्ष तर्क में है तो हम अनेकान्त का समर्थन करेंगे।

7. यहां इस बात की ओर संकेत करना अप्रासंगिक नहीं होगा कि आचार्य शंकर सत् और असत् जैसे धर्मों की विरुद्धता बताने के लिए शीत और उष्ण का उदाहरण देते समय युगपत्सदसत्त्वादिविरुद्धधर्मसमावेशः संभवति शीतोष्णवत्। सत् और असत् विरोधी हैं जबकि शीत और उष्ण विपरीत हैं। विपरीत सदा ही सापेक्ष होते हैं— शीत शीततर की अपेक्षा उष्ण होता है और उष्ण उष्णतर की अपेक्षा शीत होता है। किन्तु सत् और असत् विपरीत नहीं है, अपितु विरुद्ध हैं। अतः उनमें सापेक्षता प्रदर्शित करना इतना सरल नहीं। जैन आचार्यों ने केवल विपरीत धर्मों का ही नहीं अपितु विरुद्ध धर्मों का भी सहअस्तित्व सम्भव बताया है। आचार्यशंकर का ध्यान इस सूक्ष्म भेद की ओर नहीं गया। किन्तु इस कारण से उनकी मूल मान्यता में कोई अन्तर नहीं आता।
8. ऊपर हम बता चुके हैं कि कर्मकांड और व्यवहार पक्ष में वैदिक परम्परा में अनेकान्तवाद उतना ही स्वीकार्य है, जितना जैन परम्परा में। इसी कारण कर्मकांड को आधार बनाकर चलने वाले पूर्वमीमांसा के कुमारिलभट्ट जैसे आचार्य वस्तु की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार करते रहे हैं— तस्माद्द्वस्तु त्रयात्मकम्¹² आचार्य शंकर भी परमार्थ की दृष्टि से द्वैत अथवा कर्म का खंडन करते रहे, किन्तु व्यवहार के स्तर पर वे भी द्वैत और सापेक्षता को स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. सतकड़े मुखर्जी की टिप्पणी अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

यद्यपि मेरी व्यक्तिगत दार्शनिक आस्था का झुकाव शांकर वेदान्त की ओर है, जो कि आपाततः देखने पर दृष्टि और निष्कर्ष की अपेक्षा से सर्वथा विपरीत प्रतीत हो सकता है, किन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि तर्क और ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से वेदान्त स्पष्टतः वस्तुवादी है। वेदान्त व्यावहारिक सत्ता को तर्क की दृष्टि से जिस प्रकार तर्क-विरुद्ध और विरोधों का समूह मानता है, जैन भी उससे सहमत है किन्तु उसका मौलिक मतभेद यह है कि वह तर्क के प्रति एक विशेष दृष्टि रखता है। जैन तर्क की दृष्टि से वेदान्त की उपलब्धियों को स्वीकार करता है, किन्तु उसके निष्कर्ष वही नहीं। उसका कहना है कि विरोध सत् का वास्तविक स्वरूप है।¹³

9. उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कतिपय निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(क) वेदान्त पारमार्थिक सत्ता के संदर्भ में अनेकान्त को स्वीकार नहीं कर सकता।

- (ख) व्यावहारिक सत्ता के संदर्भ में अनेकान्त को स्वीकार करने में वेदान्त को भी कोई आपत्ति नहीं है।
- (ग) हमारे समस्त क्रियाकलाप व्यावहारिक सत्ता पर टिके हैं। अतः वेदान्त की दृष्टि से भी व्यवहार में हमें अनेकान्त का ही अनुसरण करना पड़ेगा।
- (घ) इसका यह अर्थ हुआ कि सिद्धान्ततः भले ही वेदान्त जैन से सहमत न हो, किन्तु व्यवहार में उसका जैन से कोई मतभेद नहीं। व्यवहार अनेकान्त और वेदान्त का मिलन बिन्दु है।
- (ङ) प्रस्तुत निबन्ध में हमने अपने को वेदान्त तक सीमित रखा है। इसी प्रकार यदि हम बौद्ध दर्शन जैसे अन्य दर्शनों का भी अनुशीलन करें तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि दार्शनिक विचार-विमर्श और सिद्धान्त में अनेकान्त के सम्बन्ध में मतभेद हो सकता है, किन्तु व्यवहार में दैनन्दिनी समस्याओं का समाधान अनेकान्त द्वारा ही सम्भव है।

अतः हमें भेद में अभेद ढूँढ़ना होगा—व्यवहार में अभेद है, वैचारिक स्तर पर भेद हो सकता है। यह स्वीकार करने में ही हमारा कल्याण है। इसी मार्ग से संघर्ष का शमन हो सकता है— नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। इतिहास साक्षी है कि वैचारिक स्तर पर भी एकता स्थापित करने के प्रयत्न सफल नहीं हुए हैं। ऐसे प्रयत्नों ने धर्मान्धता, अधिनायकवाद और आतंकवाद को ही जन्म दिया है।

संदर्भ :

- | | |
|-------------------------------|---|
| 1. जैन न्याय का विकास, पृ. 37 | 9. जैन न्याय का विकास, पृ. 43 |
| 2. शतपथ ब्राह्मण 10.5.2.4 | 10. शतपथ ब्राह्मण 6.5.3.7 |
| 3. जैन न्याय का विकास, पृ. 38 | 11. ब्रह्मसूत्र 2.2.33 |
| 4. शतपथ ब्राह्मण 14.4.4.3 | 12. मीमांसाश्लोकवार्तिक, वनवाद 22-24 |
| 5. शतपथ ब्राह्मण 11.2.3 | 13. डॉ. सतकड़े मुखर्जी, दी जैन फिलोसॉफी |
| 6. जैन न्याय का विकास, पृ. 41 | ऑफ नॉन-एब्सोल्यूटिज्म, भूमिका-पृ. 10 |
| 7. ऋग्वेद 10.129.4 | |
| 8. ऋग्वेद 10.5.7 | |

प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष

जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन

जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ - 341 306 (राज.)

अनेकान्तवाद - एक विवेचन

— प्रो. तुषार कान्ति सरकार

अनेकान्त एवं अवक्तव्य यह दो शब्द आज जैन दर्शन की चर्चा के संदर्भ में बहुत महत्त्वपूर्ण है। अनेकान्त शब्द का अर्थ चार प्रकारों से हो सकता है—

1. वह मतवाद जो एकांत नहीं है।
2. वह मतवाद जो किसी भी विकल्प को वर्जित नहीं करता यानी सर्वात्मक है।
3. हर वस्तु का स्वरूप ऐसा है कि वह सब एक दूसरे से जुड़े होने के नाते समझ में आ सकते हैं।
4. वस्तु का स्वरूप अनन्त धर्मात्मक होने के नाते इनमें परस्पर विरोधी जैसे अस्ति व नास्ति और लाल व अलाल युगपत् रह सकते हैं।

कुछ वैज्ञानिकों ने अनेकान्तवाद को इसी तरह से समझने की कोशिश की है। अनेकान्त का पर्याय शब्द संकीर्णवाद, आकुलवाद, संहारवाद व वस्तुशवलवाद जो कि अनेकान्त जयपताका में उल्लेखित है उनके आधार पर कहना चाहता हूँ कि अनेकान्त के जितने पर्याय शब्द जयपताका में उल्लेखित रहे, उनके हर शब्द अपने ढंग से अनेकान्त का अभिप्राय प्रकट करते हैं। अतः वे परस्पर परिपूरक हैं। जैसे कि इन सब पर्याय-शब्दों का समावेश किया गया है तो अनेकान्त की बहुमुखी प्रतिभा प्रतिस्फुटित हो जाती है।

अनेकान्त शब्द की भांति अवक्तव्य शब्द के भी कई प्रकार हो सकते हैं। उनमें से मैंने दो अर्थ का उल्लेख किया है। इसलिए कि अवक्तव्य का एक अर्थ स्वाभाविक रूप से अनेकान्त या वस्तुओं का अनंत धर्मात्मकता से जुड़ा हुआ है लेकिन सप्तभंगी नय के संदर्भ में अवक्तव्य शब्द का जो व्यवहार है, वह ऊपर में

कहे गये अनेकान्त से जुड़े अर्थ से भिन्न है, यह ध्यान रखना चाहिए। मेरा मूल वक्तव्य यह है कि अनेकान्तवाद एक ऐसा मतवाद है जो कि हमें जीवन में सहनशीलता, दूसरे के मतवाद को सम्मान देना और हर मतवाद के पीछे एक सच्चाई छुपी हुई रहती है, यह मानने के लिए हमें मानसिक रूप से तैयार करता है। लेकिन जीवन में कठिनाई का सामना करते हुए अनेकान्तवाद को अंध-भक्ति के साथ मान लेने में कोई फायदा नहीं होगा। अनेकान्तवाद हमें और कई सम्भावनाओं के बारे में सचेतन और श्रद्धाशील बनाता तो है लेकिन उनमें से कौनसे विकल्प को चुना जाए, वह व्यक्ति विशेष के ऊपर निर्भर करता है।

जैसा कि मैंने कहा, अहिंसा सबसे कम शक्ति के प्रयोग की वह नीति है जिससे समाज और परिवेश की स्थितावस्था, साम्य और पारस्परिक तालमेल यानी सुसामंजस्य की जिम्मेदारी मिलती है। लेकिन सबसे कम शक्ति के प्रयोग की कसौटी क्या है? यह हर व्यक्ति को अपने अपने क्षेत्र में खुद ही निर्धारण करनी पड़ेगी। इसी को मैंने अधिकृत पसंद Authentic Choice कहा है।

अनेकान्तवाद हमें Authentic होने में मदद तो जरूर कर सकता है लेकिन संकट की स्थिति में हमारी Authentic Choice क्या होगी, यह नहीं बतला सकता है। मेरे ख्याल में अनेकान्तवाद के प्रति श्रद्धा प्रकट करने का सबसे अच्छा उपाय एक ही है कि हम अनेकान्त का सहारा लेते हुए सत्यता के साथ अपना-अपना Authentic Choice ठीक रखें।

अनेकान्तवाद सहनशीलता और दूसरों से मिले-जुले सद्भाव से रहने की मानसिकता को एक आधारशिला होने के नाते न्यूनतम हस्तक्षेप Minimum interference के अर्थ में अहिंसा का एक वातावरण तैयार भी करता है। जिससे एकतरफ Adaptive Flexibility (अपनी-अपनी बातों पर खड़ा रहने की बजाय दूसरों की बातों का सम्मान करते हुए जीने की मानसिकता) पैदा हो जाती है और दूसरी तरफ इसी के कारण Marginalization of Recalcitrant Views जो कि आज कल गणतंत्र की एक बहुत बड़ी कमजोरी है, वर्जित हो जाती है और साथ-साथ आदमी से आदमी के जुड़े रहने की जो शक्ति है The Strength of man to man bonding और भी गहराई की तरफ ले जा सकती है।

दर्शन विभाग
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकता-700 012

राष्ट्रीय परिसंवाद में दिये गये भाषण का सार-संक्षेप।

भगवान महावीर और अनेकान्तवाद

—डॉ. अशोक कुमार जैन

संसार के महापुरुषों में तीर्थंकर महावीर का अप्रतिम स्थान है। वे धर्म प्रवर्तक ही नहीं, अपितु, महान लोकनायक, धर्मनायक, क्रान्तिकारी सुधारक, सच्चे पथप्रदर्शक और विश्वबन्धुत्व के प्रतीक थे। उनके कैवल्यालोक से मानव हृदयों का अज्ञानरूपी अंधकार छिन्न हो गया और नाशोन्मुख मानवता को त्राण प्राप्त हुआ।

महावीर की साधना वीतरागता की साधना थी। उन्होंने विकृतियों से मुक्त होकर शुद्ध चैतन्य-स्वरूप परमात्म-तत्त्व को प्राप्त किया और विश्व को समाजवाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखाकर अमरत्व का सन्देश दिया। आचार्य समन्तभद्र ने भगवान महावीर के तीर्थ को सर्वोदय तीर्थ की संज्ञा से अभिहित करते हुए लिखा है—

सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ।¹

हे तीर्थंकर महावीर ! आपका तीर्थ सर्वान्तवान है और गौण तथा मुख्य की कल्पना को साथ में लिये हुए है। जो शासन-वाक्य धर्मों में पारस्परिक अपेक्षा का प्रतिपादन नहीं करता, वह सर्व धर्मों से शून्य है। अतः आपका ही यह शासन तीर्थ सर्व दुःखों का अन्त करने वाला है, यही निरन्त है और सब प्राणियों के अभ्युदय का कारण तथा आत्मा के पूर्ण अभ्युदय का साधक ऐसा सर्वोदय तीर्थ है।

सर्वोदय का आधार समता है। भगवान् महावीर के दर्शन की प्रमुख विशेषतायें हैं आचार में अहिंसा, विचार में अनेकान्त, वाणी में स्याद्वाद और समाज में अपरिग्रह।

भगवान् महावीर और बुद्ध के समय भारत में वैचारिक संघर्ष और दार्शनिक विवाद अपने चरम सीमा पर था। जैनाग्रहों में 363 भेदों का वर्णन है जैसा कि सूत्रकृतांग निर्युक्ति में लिखा है²—

असिइसयं किरियाणं अक्किरियाणं च होइ चुलसीती।

अन्नाणिय सत्तट्टी वेणइयाणं च बत्तीसा।

तेसि मताणुमतेणं पन्नवणा वण्णिया इहऽज्झयणे।

सब्भावणिच्छयत्थं समोसाणमाहु तेणं ति ॥

दीघ निकाय के ब्रह्मजालसुत्त में 62 मतों का वर्णन है।

वैचारिक आग्रह और मतान्धता के इस युग में एक ऐसे दृष्टिकोण की आवश्यकता थी, जो लोगों को आग्रह एवं मतान्धता के ऊपर उठने के लिए दिशा-निर्देश दे सके। भगवान् बुद्ध ने इसके लिए विवाद-पराडमुखता को अपनाया। सुत्तनिपातं में वे कहते हैं कि मैं विवाद के दो फल बताता हूँ। एक तो वह अपूर्ण व एकांगी होता है और दूसरे कलह एवं अशान्ति का कारण होता है, अतः निर्वाण को निर्विवाद भूमि समझने वाला साधक विवाद में न पड़े।³ बुद्ध ने अपने युग में प्रचलित सभी परस्पर विरोधी दार्शनिक दृष्टिकोणों को सदोष बताया और अपने को किसी भी दार्शनिक मान्यता के साथ नहीं बांधा। वे कहते हैं कि पण्डित किसी दृष्टि या वाद में नहीं पड़ता।⁴ बुद्ध की दृष्टि में दार्शनिक वाद-विवाद निर्वाण मार्ग साधक के कार्य नहीं है। अनासक्त पुरुष के पास विवाद रूपी युद्ध के लिए कोई कारण ही शेष नहीं रह जाता। इसी प्रकार भगवान् महावीर ने भी आग्रह को साधना का सम्यक् पथ नहीं समझा। उन्होंने कहा है⁵—

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।

जे उ तत्थ विउस्संति, संसारं ते विउस्सिया ॥

अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निन्दा करते हुए जो गर्व से उछलते हैं वे संसार (जन्म-मरण की परम्परा) को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनों ही उस युग की आग्रहवृत्ति और मतान्धता से जन-मानस को मुक्त करना चाहते थे, फिर भी बुद्ध और महावीर की दृष्टि में थोड़ा अन्तर था। जहां बुद्ध इन विवादों से बचने की सलाह दे रहे थे वहीं महावीर इनके समन्वय की एक ऐसी विधायक दृष्टि प्रस्तुत कर रहे हैं जिसका नाम है अनेकान्तवाद।

आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथ में लिखा है⁶—

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुर विधानम्।

सकलनय विलसितानां विरोध मथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥

जात्यन्ध पुरुषों के हस्ति-विधान का निषेध करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु स्वभावों के विरोधों को दूर करने वाले उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त में जीवनभूत या बीजभूत एक पक्ष रहित अनेकान्त को मैं नमस्कार करता हूँ।

अनेकान्त का स्वरूप :

‘अनेकान्त’ यह शब्द ‘अनेक’ और ‘अन्त’ इन दो पदों के मेल से बना है। ‘अनेक’ का अर्थ है - एक से भिन्न और ‘अन्त’ का अर्थ है - धर्म। यद्यपि ‘अनेक’ शब्द द्वारा दो से लेकर अनन्त धर्मों का ग्रहण किया जा सकता है, किन्तु यहां दो धर्म ही विवक्षित हैं। प्रकृत में अनेकान्त का ऐसा अर्थ इष्ट नहीं है कि अनेक धर्मों, गुणों और पर्यायों से विशिष्ट होने के कारण अर्थ अनेकान्त स्वरूप है। अर्थ को अनेकान्त स्वरूप कहना तो ठीक है, किन्तु केवल अनेक धर्म सहित होने के कारण उसको अनेकान्त स्वरूप स्वीकार नहीं किया गया है, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर प्रकृत में अनेकान्त का इष्ट अर्थ फलित नहीं होता। प्रायः सभी दर्शन वस्तु को अनेकान्त स्वरूप स्वीकार करते ही हैं। ऐसा कोई भी दर्शन नहीं है जो घटादि अर्थों को रूप, रसादि गुण विशिष्ट स्वीकार न करता हो तथा आत्मा को ज्ञानादि गुण विशिष्ट न मानता हो। जैन दर्शन की दृष्टि से भी प्रत्येक वस्तु में विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्त धर्म रहते हैं, अतः एक वस्तु में अनेक धर्मों के रहने का नाम अनेकान्त नहीं है, किन्तु प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्म के साथ वस्तु में रहता है, ऐसा प्रतिपादन करना ही अनेकान्त का प्रयोजन है अर्थात् सत् असत् का अविनाभावी है और एक अनेक का अविनाभावी है, यह सिद्ध करना ही अनेकान्त का मुख्य लक्ष्य है।⁷

आचार्य अमृतचन्द्र⁸ ने लिखा है, **यदेव तत् तदेव अतत्, यदेवैकं तदेवा नेकम्, यदेव सत्, तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यम्, इत्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादक परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय प्रकाशनमनेकान्तः** अर्थात् जो वस्तु तत्स्वरूप है वही अतत्स्वरूप भी है। जो वस्तु एक है वही अनेक भी है, जो वस्तु सत् है वही असत् भी है तथा जो वस्तु नित्य है वही अनित्य भी है। इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व के निष्पादक परस्पर विरोधी धर्मयुगलों का प्रकाशन करना ही अनेकान्त है। अकलंकदेव ने भी लिखा है⁹ **‘सदसन्नित्यानित्यादि सर्वथैकान्त प्रतिक्षेप लक्षणोऽनेकान्तः’** अर्थात् वस्तु सर्वथा सत् ही है अथवा असत् ही है, नित्य ही है अथवा अनित्य ही है, इस प्रकार सर्वथा एकान्त के निराकरण का नाम अनेकान्त है।

उक्त कथन से यह फलित होता है कि परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले दो धर्मों के अनेक युगल वस्तु में पाये जाते हैं। इसलिए नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् इत्यादि परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों के समुदाय रूप वस्तु को अनेकान्त कहने में कोई विरोध नहीं है।

वस्तु केवल अनेक धर्मों का पिण्ड नहीं है, किन्तु परस्पर में विरोधी प्रतीत होने वाले अनेक धर्मों का भी पिण्ड है। प्रत्येक वस्तु विरोधी धर्मों का अविरोधी स्थल है। वस्तु का वस्तुत्व विरोधी धर्मों के अस्तित्व में ही है। यदि वस्तु में विरोधी धर्म न रहे तो उसका वस्तुत्व ही समाप्त हो जाये। अतः वस्तु में अनेक धर्मों के रहने का नाम अनेकान्त नहीं है, किन्तु

अनेक विरोधी धर्म-युगलों के रहने का नाम अनेकान्त है। कोई वस्तु सत् है, नित्य है और एक है, इतना होने से वह अनेकान्तात्मक नहीं मानी जा सकती किन्तु वह सत् और असत् दोनों होने से अनेकान्तात्मक है। वस्तु में विरोधी धर्मों के एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि उसमें प्रत्येक धर्म भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से रहता है। जैन तार्किकों ने पक्ष और प्रतिपक्ष के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

अनेकान्तवाद के आधार पर चार विरोधी युगलों का निर्देश किया जाता है¹⁰—

1. शाश्वत और परिवर्तन
2. सत् और असत्
3. सामान्य और विशेष
4. वाच्य और अवाच्य

इन चार विरोधी युगलों का निर्देश केवल एक संकेत है। द्रव्य में इस प्रकार के अनन्त विरोधी युगल होते हैं। उन्हीं के आधार पर अनेकान्त का सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ।

द्रव्य और पर्याय इन दोनों के आधार पर समस्त विचारों का विकास हुआ है। जितने भी दर्शन हैं वे या तो द्रव्यवादी हैं या पर्यायवादी। द्रव्यवादी दर्शन द्रव्य को कूटस्थ नित्य बताते हैं। पर्यायवादी दर्शन वस्तु को अनित्य बताते हैं। जैनदर्शन ने द्रव्य और पर्याय की व्याख्या अनेकान्त के आधार पर की, इसलिए जैनदर्शन न द्रव्यवादी है और न पर्यायवादी। वह द्रव्य और पर्याय दोनों को स्वीकार करता है। पंचास्तिकाय¹¹ में लिखा है —

पञ्जयविजुदं दव्वं दव्वविजुत्ता य पञ्जया णत्थि ।

दोण्हं अणण्णभूदं भावं समणो परुर्विति ।

अर्थात् पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं है। दोनों अनन्यभूत हैं। ऐसा श्रमण प्ररूपित करते हैं।

अनेकान्त के रूप

अनेकान्त के दो रूप हैं— नय और प्रमाण। द्रव्य के एक पर्याय को जानने वाली दृष्टि नय है और अनन्त विरोधी युगलात्मक समग्र द्रव्य को जानने वाली दृष्टि प्रमाण है। मूल वस्तु को समझने और समझाने की अनेकान्त पद्धति नयों की निरपेक्षता पर निर्भर है। निरपेक्ष दृष्टि से वस्तु तत्व का कथन नहीं किया जा सकता, क्योंकि नाम रूपात्मक जगत् में दृश्यमान सभी वस्तुयें यौगिक अथवा संयोगी (अशुद्ध) है किन्तु मूल वस्तु इससे भिन्न है, अतएव अशुद्ध और शुद्ध इन दो दशाओं का वर्णन करने के लिए दो नयों को स्वीकार करना पड़ता है। यद्यपि जितने वचन प्रकार हैं उतने ही नय हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही मत हैं, किन्तु अनन्त नय होने पर भी उनको सात नयों में विभक्त किया गया है जिनके नाम हैं— नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरुद्ध और एवम्भूत नय। इन सात नयों का समावेश

दो नयों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक में किया जाता है। मूल में वस्तु में अनन्त धर्म होने पर भी वे सभी धर्म सामान्य और विशेष में समाहित हैं।

अहिंसा विकास में अनेकान्तदृष्टि का योग—

अहिंसा का विचार अनेक भूमिकाओं पर विकसित हुआ है। कायिक, वाचिक और मानसिक अहिंसा के बारे में अनेक धर्मों में विभिन्न धारार्यें मिलती हैं। स्थूल रूप में सूक्ष्मता के बीज भी न मिलते हो, वैसी बात नहीं किन्तु बौद्धिक अहिंसा के क्षेत्र में भगवान् महावीर से जो अनेकान्त - दृष्टि मिली, वही खास कारण है कि जैनधर्म के साथ अहिंसा का अविच्छिन्न सम्बन्ध हो गया।

भगवान् महावीर ने देखा कि हिंसा की जड़ विचारों की विप्रतिपत्ति है। वैचारिक असमन्वय से मानसिक उत्तेजना बढ़ती है और वह फिर वाचिक एवं कायिक हिंसा के रूप में अभिव्यक्त होती है। शरीर जड़ है, वाणी भी जड़ है। जड़ में हिंसा-अहिंसा के भाव नहीं होते। इनकी उद्भव भूमि मानसिक चेतना है।¹²

समन्वय का श्रेष्ठ साधन

यथार्थ में अनेकान्त पूर्णदर्शी है और एकान्त अपूर्णदर्शी। सबसे बुरी बात तो यह है कि 'एकान्त' मिथ्या अभिनिवेश के कारण वस्तु के एक अंश को ही पूर्ण वस्तु मान बैठता है और कहता है कि वस्तु इतनी ही है, ऐसी ही है, इत्यादि। इसी से नाना प्रकार के झगड़े उत्पन्न होते हैं। एक मत का दूसरे मत से विरोध हो जाता है लेकिन अनेकान्त इस विरोध का परिहार करके उनका समन्वय करता है। आचार्य अमृतचन्द्र¹³ ने लिखा-

नैकान्तसङ्गतदृशा स्वयमेव वस्तु, तत्त्वव्यवस्थितमिति प्रविलोकयन्तः।

स्याद्वाद शुद्धि मधिकामधिगम्य संतो, ज्ञानी भवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः ॥

अर्थात् सज्जन पुरुष अनेकान्तयुक्त अपनी दृष्टि से वस्तु की यथार्थ व्यवस्था को स्वयं ही देखते हुए तथा स्याद्वादरूप अनेकान्त की विशुद्धता को अधिकाधिक प्राप्त करके जिन नीति को स्वीकार कर ज्ञानी बनते हैं।

रामधारीसिंह, 'दिनकर' ने लिखा¹⁴— सहिष्णुता, उदारता, सामाजिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में यह भारत की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है। जिसके अधीन यह देश एक हुआ है और जिसे अपना कर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरे के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अपने पर भी सन्देह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता। अशोक और हर्षवर्द्धन अनेकान्तवादी थे जिन्होंने एक धर्म में दीक्षित होते हुए भी सभी धर्मों की सेवा की। अकबर अनेकान्तवादी था, क्योंकि सत्य के सारे अंश उसे किसी एक धर्म में दिखाई नहीं दिये एवं

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

सम्पूर्ण सत्य की खोज में वह आजीवन सभी धर्मों को टटोलता रहा। परमहंस रामकृष्ण अनेकान्तवादी थे, क्योंकि हिन्दू होते हुए भी उन्होंने इस्लाम और ईसाई मत की साधना की थी और गांधी का तो सारा जीवन ही अनेकान्तवाद का उन्मुक्त अध्याय था।

वास्तव में भारत की सामाजिक संस्कृति का सारा दारोमदार अहिंसा पर है, स्याद्वाद और अनेकान्तवाद की कोमल भावना पर है। यदि अहिंसा नीचे दबी रही और असहिष्णुता एवं दुराग्रह का विस्फोट हुआ, तो वे सारे ताने - बाने टूट जायेंगे जिन्हें इस देश में आने वाली बीसियों जातियों ने हजारों वर्षों तक मिलकर बुना है।

स्वस्थ व्यक्तित्व निर्माण में अनेकान्त का योग

अनेकान्त दृष्टि के होते ही जीवन व्यवहार का नक्शा ही बदल जाता है। उसका कोई भी आचरण या व्यवहार ऐसा नहीं होता, जिससे कि दूसरे की स्वतंत्रता पर आंच पहुंचे। तात्पर्य यह है कि वह ऐसे महासत्त्व की ओर चलने लगता है जहां मन, वचन और कर्म की एक सूत्रता होकर स्वस्थ व्यक्तित्व का निर्माण होने लगता है। ऐसे स्वस्थ स्वोदयी व्यक्तियों से ही वस्तुतः सर्वोदयी नव समाज का निर्माण हो सकता है और तभी विश्व शान्ति की स्थायी भूमिका बन सकती है।

भगवान महावीर ने वस्तु स्थिति पर भली प्रकार से विचार कर सत्य संशोधन का संकल्प सिद्ध किया। उन्होंने अनेकान्तदृष्टि की चाबी से वैयक्तिक और सामष्टिक जीवन की व्यावहारिक और पारमार्थिक समस्याओं के ताले खोल दिये और समाधान प्राप्त किया। तब उन्होंने जीवनोपयोगी विचार और आचार का निर्माण करते समय उस अनेकान्तदृष्टि की निम्नलिखित मुख्य शर्तों को प्रकाशित किया और उसके अनुसरण का अपने जीवन द्वारा उन्हीं शर्तों का उपदेश दिया। ये शर्तें इस प्रकार हैं-

1. राग और द्वेषजन्य संस्कारों के वशीभूत न होना अर्थात् तेजस्वी माध्यस्थ भाव रखना।
2. जब तक माध्यस्थ भाव का पूर्ण विकास न हो, तब तक उस लक्ष्य की ओर ध्यान रखकर केवल सत्य की जिज्ञासा रखना।
3. किसी भी विरोधी पक्ष से न घबराना और अपने पक्ष की तरह उस पक्ष पर भी आदरपूर्वक विचार करना तथा अपने पक्ष पर भी विरोधी पक्ष की तरह तीव्र समालोचक दृष्टि रखना।
4. अपने तथा दूसरे के अनुभवों में से जो-जो अंश ठीक पायें, चाहे वे विरोधी प्रतीत क्यों न हों - उन सबका विवेक प्रज्ञा से समन्वय करने की उदारता का अभ्यास करना और अनुभव बढ़ने पर पूर्व के समन्वय में जहां गलती मालूम हो वहां मिथ्याभिमान छोड़कर सुधार करना और इसी क्रम से आगे बढ़ना।¹⁵

पं.महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने लिखा है¹⁶— कायिक अहिंसा के लिए जिस तरह व्यक्तिगत सम्प्रदाय आवश्यक है, उसी तरह वाचनिक और खासकर मानस-अहिंसा के लिए अनेकान्त दृष्टि विशेष रूप से उपासनीय है। जब तक दो विभिन्न विचारों का अनेकान्त दृष्टि से वस्तु स्थिति के आधार पर समीकरण न होगा तब तक हृदय में उनका अन्तर्द्वन्द्व चलता ही रहेगा और उन विचारों के प्रयोजकों के प्रति राग-द्वेष का भाव जाग्रत हुए बिना न रहेगा। इस मानस-अहिंसा के बिना केवल बाह्य अहिंसा याचितकमण्डल रूप ही है। यह तो और भी कठिन है कि किसी वस्तु के विषय में दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हों और उनका अपने-अपने ढंग से समर्थन ही नहीं, उसकी सिद्धि के लिए वाद-विवाद भी करते हों, फिर भी वे एक दूसरे के प्रति समताभाव मानस-अहिंसा रख सकें। भगवान् महावीर ने इसी मानसी शुद्धि के लिए, अनिर्वचनीय अखण्ड अनन्तधर्मा वस्तु के एक-एक अंश को ग्रहण करके भी पूर्णता का अभिमान करने के कारण विरुद्ध रूप से भासमान अनेक दृष्टियों का समन्वय करने वाली, विचारों का समझौता कराने वाली, पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टि को सामने रखा। जिससे एकवादी इतरवादियों की दृष्टि का तत्व समझ कर उसका उचित अंश तक आदर करे, उनके विचारों के प्रति सहिष्णुता का परिचय दे और राग-द्वेष विहीन हो शान्त चित्त से वस्तु के पूर्ण स्वरूप तक पहुंचने की दिशा में प्रयत्न करे। समाज रचना या संघ निर्माण में तो इस तत्व की खास आवश्यकता थी।

सर्वधर्म समभाव में अनेकान्त का योग

अनेकान्तवादी दूसरे धर्मों के प्रति घृणा का भाव नहीं रखता है। वह सब धर्मों में भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं से आंशिक सत्य देखता है। मैक्समूलर ने कहा है, मेरा मत है कि संसार के महान् धर्मों में से प्रत्येक में एक दैवीय तत्व विद्यमान है। मैं समझता हूँ कि उनको शैतान की कारस्तानी बताना, जबकि वे सब ईश्वर के बनाये हुए हैं, ईश्वर की निन्दा करना है, और मेरा मत है कि ऐसी कोई जगह नहीं है, जहां परमात्मा में विश्वास उस दैवीय स्फुरणा के बिना हो गया हो, जो मनुष्य में कार्य कर रही दैवीय आत्मा का प्रभाव है। यदि मैं इससे भिन्न विश्वास करूँ, यदि मैं अपनी गम्भीरतम सहजवृत्ति के विरुद्ध अपने आपको यह मानने के लिए विवश करूँ कि केवल ईसाइयों की प्रार्थनाएँ ही ऐसी हैं जिन्हें कि परमात्मा समझ सकता है, तो मैं अपने आपको ईसाई नहीं कह सकता। सब धर्म केवल हकलाने (अस्फुट भाषण) जैसे हैं। हमारा अपना धर्म भी उतना ही ऐसा है जितना कि ब्राह्मणों का धर्म। उन सबका अर्थ समझना होगा और मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि उनमें चाहे जो भी त्रुटियाँ क्यों न हो, उसका अर्थ समझा ही जायेगा।¹⁷

सम्राट अशोक ने अपने शिलालेख में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखवाई, राजा प्रियदर्शी सब सम्प्रदायों और गृहस्थों का आदर करते हैं। वे उपहारों द्वारा तथा विविध प्रकार की कृपाओं द्वारा उनका सम्मान करते हैं, क्योंकि जो व्यक्ति केवल अपने सम्प्रदाय से पूर्ण अनुराग के कारण अन्य सम्प्रदायों की निन्दा करते हुए अपने सम्प्रदाय का आदर करता है,

जिससे उसके अपने सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, वह वस्तुतः ऐसे आचरण द्वारा स्वयं अपने सम्प्रदाय पर कुटाराघात कर रहा है।¹⁸

जैन दार्शनिकों ने दार्शनिक एकान्तवादों का समन्वय करने का प्रयत्न किया ताकि सबकी कथञ्चित् सत्यता का भी भान हो सके। इस दृष्टिकोण से उन्होंने भावैकान्त, अभावैकान्त, अद्वैतैकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, भेदैकान्त, अभेदैकान्त, हेतुवाद, अहेतुवाद, अपेक्षावाद, अनपेक्षावाद, दैववाद, पुरुषार्थवाद, कालवाद, स्वाभाववाद, आत्मवाद, पुरुषार्थवाद आदि विभिन्न वादों का अनेकान्त दृष्टि से समन्वय किया है।

अनेकान्त की घोषणा है— जितने वचन के पथ उतने नयवाद सत्य को पकड़ने के दृष्टिकोण। प्रत्येक विचार एक नय है और वह है सापेक्ष। हमारी सत्यांश को पकड़ने की प्रवृत्ति नहीं है। सत्यांश को पूर्ण सत्य मानकर चलने की प्रवृत्ति बद्धमूल हो गयी है, इसलिए हम एक विचार को सत्य मानते हैं और दूसरे को असत्य। साम्प्रदायिक झगड़ों का यही मूल आधार है। साम्प्रदायिक सद्भावना का स्वर्ण सूत्र है अनेकान्त। अपने विचार के सत्यांश को स्वीकार करो पर भिन्न विचार या दूसरे के विचार के सत्यांश का खण्डन मत करो। भेद और अभेद दोनों सापेक्ष हैं। उन दोनों को सापेक्ष दृष्टि से देखो।¹⁹

आचार्य महाप्रज्ञ ने लिखा है— अनेकान्तवाद का दृष्टिकोण यह है— मनोवृत्ति और व्यवस्था दोनों का युगपद् परिवर्तन होना चाहिए। यह युगपतवाद अनेकान्तवाद का प्राण तत्व है। इसमें दो विकल्पों की एक साथ स्वीकृति है। इस युगपतवाद के आधार पर नई समाज रचना का प्रयत्न किया जाए, तो नई दिशा का उद्घाटन हो सकता है। श्रम, स्वावलम्बन, स्वदेशी अर्थव्यवस्था, राज्यव्यवस्था, कृषि, उद्योग आदि भौतिक संसाधनों में परिवर्तन लाने की कल्पना ये सब नई समाज व्यवस्था में प्राण संचार नहीं कर सकतीं। श्रम और स्वावलम्बन की चेतना को विकसित करके ही उसमें प्राण संचार किया जा सकता है। चेतना को विकसित करने की दिशा में प्रयत्न बहुत कम हो रहा है, इसलिए प्रयत्न का जो परिणाम आना चाहिए, वह नहीं आ रहा है। चेतनाशून्य प्रवृत्ति महावीर की भाषा में द्रव्य क्रिया है।²⁰

मोह दूर करने के लिए सबसे पहले दृष्टि विकार को दूर करने की आवश्यकता है। सर्वथा एकान्त का त्याग कर अनेकान्त को स्वीकार करके ही वस्तु का कथन किया जा सकता है। प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है। उसमें अनेक धर्म-गुण स्वभाव और अंश विद्यमान हैं। जो व्यक्ति किसी भी वस्तु को एक ओर से देखता है उसकी दृष्टि एक धर्म या गुण पर ही पड़ती है। अतः वह उसका सम्यक् द्रष्टा नहीं कहा जा सकता।

अनेकान्त से फलित होता है सन्तुलन। वह कोरा तत्ववाद का प्रतिपादक नहीं है, यह जीवन का दर्शन है। अध्यात्म का पूरा व्यवहार, अध्यात्म का प्रत्येक उन्मेष अनेकान्त के

साथ चलता है। लोक-व्यवहार में भी पग-पग पर उसकी उपादेयता है, इसीलिए आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है —

**जेण विणा लोगरस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वड्ड ।
तरस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायरस्स ॥**

इस विषमतावादी युग में वैचारिक सहिष्णुता के विकास से ही प्रशस्त वातावरण की निर्मिति हो सकती है। आज आवश्यकता है भगवान महावीर के अनेकान्त दर्शन को समझने की तथा उसके अनुसार चलने की।

सन्दर्भ

1. युक्त्यनुशासन 61
2. सूत्रकृतांग निर्युक्ति-112, 113
3. सुत्त निपात 51/2
4. वही 51/3
5. सूयगडो 1/1-50
6. पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक-2
7. प्रो. उदयचन्द जैन-आप्तमीमांसा—तत्वदीपिका, प्रस्तावना पृ. 89
8. समयसार (आत्मख्याति) 10/247
9. अष्टशती, अष्ट सहस्री पृ. 286
10. आचार्य महाप्रज्ञ : जैनदर्शन और अनेकान्त
11. आचार्य कुन्दकुन्द-गाथा- 12
12. आचार्य महाप्रज्ञ : जैन दर्शन मनन और मीमांसा पृ. 355
13. अध्यात्म अमृत कलश 265
14. श्रमण संस्कृति सिद्धान्त और साधना में श्री रामधारी सिंह दिनकर लेख पृ. 61
15. पं. सुखलाल संघवी - अनेकान्तवाद की मर्यादा लेख पृ. 152
16. पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य अकलङ्क ग्रन्थ त्रय-प्रस्तावना पृ. 88-89
17. लाइफ एण्ड लेटर्स फ्रेड्रिक मैक्समूलर खण्ड - 2 पृ. 464
18. इंक्रिप्शन्सन ऑफ अशोक : विसेण्ट स्मिथ : अशोक (1909) पृ. 171
19. आचार्य महाप्रज्ञ : भेद में छिपा अभेद पृ. 1
20. आचार्य महाप्रज्ञ : कैसी हो इक्कीसवीं शताब्दी पृ. 16

वरिष्ठ प्राध्यापक,

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू (राज.)

अनेकान्तवाद और उसके प्रयोग

—मोहनसिंह भण्डारी

जैन-दर्शन की सबसे महत्त्वपूर्ण देन है—अनेकान्तवाद, जिसको स्यादवाद के नाम से भी जाना जाता है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की नींव है, रीढ़ की हड्डी है, उसका व्याख्या सूत्र है। एक लेखक ने अहिंसा और अनेकान्तवाद को जैन मीमांसा रूपी रथ के दो चक्र बताये हैं पर मैं कह सकता हूँ कि वैचारिक और बौद्धिक अहिंसा का ही दूसरा नाम अनेकान्त है। यह चक्र नहीं, पूर्ण रथ है। यह एक ऐसा सिद्धान्त है जिसके द्वारा अनेक वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक और अन्तरराष्ट्रीय समस्याओं और संघर्षों का समाधान हो सकता है। डॉ. रामधारीसिंह दिनकर ने अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में लिखा है कि 'अनेकांत का अनुसन्धान अहिंसा साधना का चरम उत्कर्ष है और संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनायेगा, विश्व में शान्ति उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी।' आचार्य सिद्धसेन ने 'सम्मति तर्क प्रकरण' में अनेकान्तवाद को एक ऐसे समुद्र की भांति निरूपित किया है जिसमें सभी वाद यानी सभी मान्यतायें विलीन हो जाती हैं।

अनेकांत का दर्शन तत्त्वों की भाषा में समझाया गया है। इसमें से अधिकांश जो तत्त्वों की गूढ़ भाषा को नहीं समझते, उनके लिए अनेकान्त एक भूल-भूलैया सा लगता है और स्यादवाद सन्देह का एक पिटारा। शायद यही कारण है कि हम अनेकांत की उदारता, व्यापकता और उपयोगिता को न पूरा समझ पाये हैं और न विश्व को समझा पाये हैं। यद्यपि दर्शन-शास्त्र की संस्कृत और प्राकृत भाषा में जिन तकनीकी शब्दों का प्रयोग हुआ है उनके गूढ़ अर्थ को सरल हिन्दी से या अंग्रेजी में बताना कठिन है, परन्तु आधुनिक युग में अगर हमें अनेकान्त का सार समझना व समझाना है तो उसके लिए निकटतम अंग्रेजी या हिन्दी शब्दों का प्रयोग करना होगा।

अनेकान्तवाद तीन शब्दांशों से बना है— अनेक, अन्त और वाद। अनेक यानी many fold अन्त यानी वस्तु, धर्म यानी nature of reality वाद यानी मान्यता Belief. इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद का शाब्दिक अर्थ है—Belief in manifoldness of Reality. जैन मनीषियों का मत है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त गुणों, पर्यायों और धर्मों का पिण्ड है। जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। पांच अंघों ने हाथी के अलग-अलग अवयवों को देखकर हाथी का वैसा ही वर्णन किया, यह उदाहरण सर्वविदित है।

अनेकान्तवाद का एक अंग्रेजी अनुवाद है— Theory of Non-Absolutism यानी कोई absolute Truth नहीं है। जितने भी दार्शनिक हुए हैं उन्होंने मनुष्य की इस जिज्ञासा का उत्तर निकालने का प्रयत्न किया है। सत्य क्या है? सृष्टि का आधार क्या है? मैं कौन हूँ? क्या नित्य है और क्या अनित्य? क्या शाश्वत है और क्या नश्वर? इन प्रश्नों का उत्तर दार्शनिकों ने अपने-अपने सीमित ज्ञान, अनुभव और तर्क के अनुसार दिया है। कहा जाता है कि महावीर के समय में जैन आगमों के अनुसार 363 मत थे और बौद्ध आगमों के अनुसार 63 मत थे। वाद-विवाद का बोलबाला था। वादलीला थी। मौखिक प्रश्नों और उत्तरों की भरमार थी। पर मुख्य रूप से विचारों की दो धारार्यें थी—प्रथम, जो मान्यताओं के आधार पर केवल एक तत्त्व को ही सत्य मानती है और विविधताओं को मिथ्या या माया। Doctrine of exclusive Monism इसी का एक रूप है—वेदान्त का अद्वैत ब्रह्मवाद।

दूसरी धारा, विशेषताओं पर, असमानताओं पर, भेदों पर बल देकर हर वस्तु को अलग मानती है। Doctrine of exclusive pluralism इसी का एक रूप है द्वैतवाद। Universe is a conglomeration of several distinct existent. बुद्ध ने दोनों विचार पद्धतियों को टुकराया और दार्शनिक वाद-विवाद में न पड़कर मध्यम मार्ग अपनाने की सलाह दी। बुद्ध दर्शन में हर वस्तु क्षण-भंगुर है, शून्य है। इस निषेधात्मक मत से विद्वानों की जिज्ञासा शान्त नहीं हुई। महावीर ने सकारात्मक रुख अपनाकर नित्यानित्य की व्याख्या की— वही अनेकान्त दृष्टि है। पूर्ण सत्य को कोई साधारण मनुष्य नहीं जान सकता, क्योंकि हमारा बुद्धि-ज्ञान और इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वह सीमित ज्ञान असत्य है। हर ज्ञान आंशिक सत्य है। इन आंशिक सत्यों को साथ-साथ रहना है, चाहे वे विरोधी ही क्यों न लगे। तत्त्व की भाषा में समझाते हुए महावीर ने हर वस्तु को त्रयात्मक बताया— हर वस्तु में 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' तीनों एक साथ हैं। Existence, cessation and Persistence are three fundamental characteristics of all that is real. World of plurality is not a world of illusion. There is a unity with multiplicity in perfect harmony.

कुछ दार्शनिक सृष्टि की व्याख्या ईश्वरीय रचना के आधार पर करते हैं। जैन दर्शन उसकी व्याख्या जीव और पुद्गल के स्वाभाविक परिणमन के आधार पर करता है। जो कुछ भी घटित होता है वह जीव और पुद्गल (Soul and matter) की पारस्परिक प्रतिक्रियाओं से

घटित होता है। जैन दर्शन के अनुसार द्रव्य में अनन्त शक्ति है। वह द्रव्य चाहे जीव हो, चाहे पुद्गल। वह शक्ति परिणमन के द्वारा प्रकट होती है— जैसे कोयले से बिजली बनी, पानी के तेज प्रवाह से बिजली बनी।

श्वास कौन लेता है— आत्मा लेती है या पुद्गल लेता है? आत्मा भी श्वास नहीं लेती, पुद्गल भी श्वास नहीं लेता। श्वास लेता है दोनों का योग। सृष्टि में आत्मा और शरीर को अलग अलग नहीं किया जा सकता। दोनों सत्य हैं, परिणमन सत्य है, परिवर्तन सत्य है। वस्तु के अनन्त रूप हैं और हर रूप सत्य है। वस्तु तत्व की अनन्त धर्मात्कता ही अनेकान्त का औचित्य है। किन्तु एक समय, एक धर्म मुख्य होगा, शेष सारे गौण हो जाते हैं। पर जो गौण हैं, जो वर्तमान में दिखाई नहीं देते हैं वे मिथ्या नहीं है। समस्या तब पैदा होती है जब जिसने देखा उसी पर आग्रह हो गया कि वही सत्य है। रत्न अलग अलग पड़े हैं—उनको एक माला में पिरोकर रत्नावली बनाने से आग्रह समाप्त हो जायेंगे। अनेक विचार अलग-थलग पड़े हैं, बिखरे हुए हैं— उन सबको मिला दो वह सम्यक् दर्शन बन जायेगा। नित्यवाद पूर्ण सही नहीं, अनित्यवाद पूर्ण सही नहीं, दोनों को मिला दो तो दोनों सम्यक् बन जायेंगे। परिवर्तन और अपरिवर्तन दोनों को एक साथ जोड़ दो। वस्तु को देखने का यह दृष्टिकोण अनेकान्त की मौलिकता है।

आंशिक सत्यों के समन्वय का नाम ही अनेकान्तवाद है। इसके सूत्रों को या axioms को हम अंग्रेजी भाषा में बेहतर समझ सकेंगे—

1. Con-commitance between the Universal and particular.
2. Con-commitance between the permanent and the Impermanent
3. Con-comitance of existence and non-existence.
4. Con-commitance of the speakable and the unspeakable
5. Con-comitance of Being and Non-Being
6. Con-comitance of identity and difference of substance understood and not necessary and modes
7. Con-comitance of one and many.

‘अनेकान्त’ को सापेक्षवाद भी कहते हैं Theory of Relativity अर्थात् कोई भी गुण या कथन सापेक्ष है। It is relatively true विरोधी गुण भी relatively true हैं। जहां पक्ष है वहां प्रतिपक्ष भी होगा। दोनों का सम्मान करो। अनेकान्तवाद के अनुसार हमारे जीवन का पूरा व्यवहार और समाज का पूरा व्यवहार विरोधी तत्त्वों की ईंटों से बना है। यह विश्व भेदोभेद, नित्यानित्य, अस्तित्व-नास्तित्व और वाच्यावाच्य के नियमों से शृंखलित है। कोई भी द्रव्य सर्वथा भिन्न नहीं, सर्वथा अभिन्न भी नहीं, सर्वथा नित्य नहीं, सर्वथा अनित्य नहीं, सर्वथा अस्त नहीं, सर्वथा नास्ति नहीं। अनेकान्तदृष्टि के अनुसार चेतन भी सत्य है, अचेतन भी सत्य है। न तो चेतन अचेतन से बना है जैसा कि Materialists कहते हैं और न अचेतन

चेतन से बना है जैसा कि Rationalists कहते हैं। दोनों अनादि हैं, अनन्त हैं, दोनों स्वतन्त्र पर सापेक्ष हैं। आवश्यक है दोनों का समन्वय, दोनों का सामंजस्य।

अनेकान्त विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई स्याद्वाद की सप्तभंगी में। कथन के पहले स्यात् शब्द का प्रयोग जिससे कि यह गलती न हो कि वह कथन ही पूर्ण सत्य है। Logic की भाषा में सात तरह के कथन हो सकते हैं—‘स्यात् है, स्यात् नहीं है, स्यात् अवक्तव्य है, स्यात् है भी और नहीं भी, स्यात् है और अवक्तव्य भी, स्यात् नहीं है और अवक्तव्य भी, तथा स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य भी।’ एक उदाहरण से इसे समझ सकते हैं—जैसे, हम एक घड़े को देखकर कहते हैं ‘यह घड़ा है।’ स्याद्वादी कहते हैं कि इसके पहले ‘स्यात्’ शब्द लगाओ और कहो ‘स्यात् यह घड़ा है।’ क्योंकि यह घड़ा मिट्टी भी है। यह घड़ा पहले एक कटोरा था। यह घड़ा बाद में चूर-चूर होकर कचरा भी बन सकता है। यह घड़ा, कलम नहीं है। इस प्रकार अनेक आंशिक सत्य कथन कहे जा सकते हैं सापेक्ष दृष्टि से।

Logic की इस सप्तभंगी या दार्शनिक मीमांसा में ज्यादा न जाकर आज के परिपेक्ष्य में इस सिद्धान्त की उपयोगिता के बारे में उसके फलित व्यावहारिक सिद्धान्तों के बारे में जानना अधिक प्रासंगिक होगा।

अनेकान्त के अनेक महत्वपूर्ण प्रयोग हैं—सह-अस्तित्व Co-existence, समन्वय Co-ordination, सन्तुलन equilibrium, समता objectivity या तटस्थता पुरुषार्थ effort. अनेकान्त की मान्यता है कि विरोधी युगल साथ रहते हैं। संघर्ष प्रकृति का नियम नहीं है। वह आरोपित है। प्रकाश और अंधकार का सहअस्तित्व है। दिन और रात का सहअस्तित्व है। सर्दी और गर्मी का सहअस्तित्व है। मूल और फूल का सहअस्तित्व है। सहअस्तित्व स्वयंभू नियम है। विरोधी होना स्वाभाविक है, प्राकृतिक है। विरोधी रूपों का, विरोधी विचारों का साथ रहना सत्य के विभिन्न अंशों का साथ रहना है। पक्ष और प्रतिपक्ष स्वाभाविक है। अनेकान्त का सूत्र है— सह-प्रतिपक्षी। केवल युगल ही प्राप्त नहीं है। विरोधी युगल होने चाहिए। ज्ञान है तो अज्ञान है। सुख है तो दुःख है। जीवन है तो मृत्यु है। शुभ है तो अशुभ है। लाभ है तो नुकसान है। हर वस्तु के तीन तत्त्व हैं— सृष्टि, प्रलय और अस्तित्व। एक ही वस्तु में तीनों तत्त्व साथ-साथ चलते हैं। चेतन और अचेतन में न सर्वथा विरोध है और न सर्वथा अवरोध है। यदि वे सर्वथा विरोधी होते तो आत्मा अलग होती और शरीर अलग होता। पर दोनों जुड़े हुए हैं। अनेकान्त ने सन्तुलन की स्पष्ट व्याख्या की है। तराजू का पलड़ा एक ओर न झुके। दोनों पलड़े बराबर हैं— एक पलड़ा है नियत का, दूसरा अनियत का। पिता कहता है नियन्त्रण होना चाहिए। पुत्र कहता है नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। दोनों एकांगी हैं। दोनों में सन्तुलन आवश्यक है। इसी प्रकार अनेकान्तदृष्टि वाला समता रखता है। निर्णय करते समय तटस्थ रहता है। प्रत्येक निर्णय के चार घटक हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव। इन चारों के आधार पर निर्णय बदलता रहता है। हर निर्णय भी बदलेगा। सापेक्ष निर्णय सही निर्णय है।

अनेकान्त पुरुषार्थ और पराक्रम का सूत्र देता है। वह अनन्त सम्भावनाओं को स्वीकार करता है। सम्भावनाओं का संसार बहुत बड़ा है। नेपोलियन बोनापार्ट कहता था— “मेरे शब्द कोष में असम्भव जैसा शब्द नहीं है।” यही अनेकान्त की तत्त्वदृष्टि है। अवरथा के परिवर्तन के साथ-साथ सारी असम्भव बातें सम्भव हो सकती हैं। विज्ञान की खोज इस दृष्टि को निरन्तर उजागर कर रही है। खोज की गति अनन्त है— यह आशावादी दृष्टिकोण है।

अनेकान्त कहता है, प्रशंसा इष्ट है तो निन्दा के लिए तैयार रहो। सुख को चाहो तो दुःख के लिए तैयार रहो। चाहो तो दोनों को चाहो अन्यथा दोनों को मत चाहो। यह है समता। द्वन्द्व की दुनिया में एक मत से काम नहीं चलता। अनन्त सम्भावनाओं के साथ अनेकान्त प्रत्येक साधन की सीमा का बोध कराता है। सभी नियम सापेक्ष होते हैं। किसी भी नियम का एक-छत्र शासन नहीं होता। धर्म और ध्यान भी सब समस्याओं का समाधान नहीं कर सकते।

आज आवश्यकता है अनेकान्त के सूत्रों को धार्मिक क्षेत्र में, राजनैतिक क्षेत्र में, पारिवारिक क्षेत्र में, सामाजिक क्षेत्र में और अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में प्रयोग करने की।

धार्मिक क्षेत्र में

इतिहास बतलाता है कि धार्मिक असहिष्णुता ने विश्व में जघन्य दुष्कृत्य कराये। शान्ति प्रदाता धर्म अशान्ति का कारण बना। विश्व के प्रत्येक धर्माचार्य ने अपने युग की तात्कालिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर अपने सिद्धान्तों और साधना के नियमों का प्रतिपादन किया। यह स्वाभाविक था। भूल यह हुई कि हमने इस काल विशेष और परिस्थिति विशेष धर्म व्याख्या को कट्टरता से सदा सदा के लिए पूर्ण सत्य मान लिया। मनुष्य की अपने धर्माचार्य के प्रति ममता और उसके मन में व्याप्त आग्रह और अहंकार ने उसे साम्प्रदायिक बना दिया। आज हम इन सम्प्रदायों को समाप्त नहीं कर सकते। अनेकान्त विचार दृष्टि इनकी एकता का प्रयास भी नहीं करती। उसका सूत्र हो सकता है—सर्व धर्म समभाव। सब सम्प्रदायों का आदर करो और उन्हें नैतिकता की व्यापक पूर्णता में उड़ेलने का प्रयास करो मैत्री के साथ। Secularism का पाठ अनेकान्त का पाठ है—धर्म निरपेक्ष होकर नहीं, सम्प्रदाय सापेक्ष होकर। आज हमें अनेकान्त दृष्टि से Secularism को समझना होगा। राज्य किसी एक धार्मिक सम्प्रदाय को प्रश्रय नहीं देगा या अवहेलना नहीं करेगा किन्तु उनके समन्वय द्वारा धर्म की, सत्य की स्थापना अवश्य करेगा।

सभी धार्मिक मान्यताओं के मूलभूत सिद्धान्तों में एकता की लहर दिखाई दे सकती है, अनेकान्त दृष्टि से। स्वामी विवेकानन्द ने कहा था—“...the religions of the world are not contradictory or antagonistic. They are but various phases of one eternal religion. That one eternal religion is applied the opinions of minds and various races. There never was my religion or yours, my national religion or your

national religion; there never existed many religions, there is only the one. One Infinite religion existed all through eternity and will ever exist, and this religion is expressing itself in various countries in various ways. "(Complete works, 4:180)" यही अनेकान्त का सार है।

‘बहाइ’ विश्वास के मिशन के बहाउल्ला के पड़-पौत्र शौगी इफन्डी ने व्यक्त किया—
“... The mission of the Founder of their faith, they conceive it to be, is to proclaim that religions truth is not absolute but relative, that divine revelation is continuous and progressive, that the founders of all past religions, though different in non-essential aspects of their teachings, abide in the same Tabernacle, soar in the same haven, are seated upon the same throne, utter the same speech and proclaim the same faith. यही अनेकान्त की मूल धारा है।

गीता का सार बताते हुये स्वामी कृष्णानन्द लिखते हैं—“The gospel which Krishna bequeaths to humanity is not a cult, religion or secret creed of any particular faith or community. It is indeed a science and art of life.... The greatness of the Gita is in the integrity of its approach, the universality of its teaching and the all-comprehensiveness of its theme..” यह अनेकान्त का पाठ है।

गौतम बुद्ध ने अपने अनुयायियों को कभी यह नहीं कहा कि जो वे कहते हैं, वही सत्य है। बुद्ध कहते थे— “Do not believe anything on mere heavsay. Do not believe traditions because they are old, and have been handed down through many generations. Do not believe simply because the written testimony of some ancient sage is shown to be there. Do not believe anything on the mere authority of thy teachers or priests. Whatsoever according to thine own experience, and after through investigation, agrees with thy reason, and is conducive to thine own weal and welfare as well as to those of other living beings, that accept as true and shape thy life in accordance therewith.” यह अनेकान्त की वैज्ञानिक दृष्टि है।

राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में भी एकांगी मन्तव्यों ने हमें दबोच रखा है। पूंजीवाद, साम्यवाद, समाजवाद, अनेक राजनैतिक विचारधारयें प्रचलित हैं। इनमें से प्रत्येक एक दूसरे को समाप्त करने में प्रयत्नशील है। प्रत्येक राष्ट्र अपनी-अपनी वैचारिक प्रभुता को विश्व में थोपने का प्रयास कर रहा है। अनेकान्त दो सूत्रों से — वैचारिक सहिष्णुता और समन्वय के द्वारा सृजनात्मक राजनीति का विकास हो सकता है। संसदीय प्रजातन्त्र (Parliamentary Democracy) वस्तुतः राजनैतिक अनेकान्तवाद है। बहुमत और अल्पमत यदि सापेक्ष दृष्टि से अपने विचार प्रस्तुत करें तो संसदीय प्रजातंत्र प्रणाली सफल हो सकती है। W.T.O. गलत नहीं है Globalisation गलत नहीं है, पर वे पूर्ण सत्य भी नहीं है।

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

इसी प्रकार पारिवारिक जीवन में अनेकान्तदृष्टि कुटुम्ब की शान्ति कायम कर सकती है। वृद्धों और युवकों में विचार भेद स्वाभाविक है। स्त्री और पुरुष के सोचने में भी अन्तर हो सकता है। इस स्वाभाविकता को समझ लिया जाय तो मनमुटाव नहीं होगा। पारिवारिक शान्ति बनी रहेगी।

अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में U.N.O. Charter अनेकान्त का Charter है। काश! हम इसे निःस्वार्थ होकर आग्रह और हठ को छोड़कर राष्ट्र के वास्तविक सम्बन्धों में क्रियान्वित कर सके। War is caused in the minds of men. Peace is also caused in the minds of men. Man के इस Mind को अगर हम अनेकान्तवादी बना दें तो विश्व शान्ति को कोई खतरा नहीं रहेगा। कश्मीर समस्या को ही लें, भारत पाकिस्तान को पूर्णतः दोष देता है और पाकिस्तान भारत को। इससे समस्या कभी नहीं सुलझेगी। दोनों के तर्कों में सत्यांश है। इन सत्यांशों के आधार पर अनेकान्तदृष्टि से काल-स्थिति को देखकर अतीत, वर्तमान, भविष्य को देखकर समझौता हो सकता है पर यह तभी सम्भव है जबकि हम अपने विचारों को अहिंसक बनाये। विचारों की अहिंसा यानी प्रतिपक्ष का आदर। वैचारिक अहिंसा के बिना आचार की हिंसा समाप्त नहीं हो सकती है। राग-द्वेष कम नहीं हो सकता है, अहंकार कम नहीं हो सकता है, स्वार्थ कम नहीं हो सकता है।

सामाजिक क्षेत्र में यदि अनेकान्त का सिद्धान्त अपनाया जाये तो गरीबी समाप्त हो सकती है। मानवीय अधिकारों की रक्षा हो सकती है। न्याय की स्थापना हो सकती है।

अन्त में मैं यह दुःख के साथ कहना चाहूंगा कि जैन दर्शन के इस सिद्धान्त को जैनी स्वयं भूल चुके हैं। जैन-धर्म में अनेक सम्प्रदाय बने। इनके ऐतिहासिक कारण हो सकते हैं। समयानुसार कुछ मतभेद हुए आचार-विचार में दुर्बलताओं को लेकर। पर धीरे-धीरे वे समयानुसार मिट भी रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि सम्प्रदायों को समाप्त किया जा सकता है। किन्तु समन्वय सम्भव है, मित्रता सम्भव है, मिलकर काम करना सम्भव है। बहुरूपता में भी एकरूपता प्रदर्शित करनी है। क्या हम जैन संघ (Jain Federation) की स्थापना कर सकते हैं, जैसे भारत अनेक राज्यों का Federation है। यदि कोई इसका माध्यम बने तो यह अनेकान्त का प्रयोग होगा। कम से कम मानवीय सेवा के या पारमार्थिक सेवा के जितने कार्यक्रम हैं उनमें विभिन्न जैन सम्प्रदाय मिलकर उपस्थित हों, मिलकर योगदान दें। चाहे वह चिकित्सा का क्षेत्र हो, शिक्षा का क्षेत्र हो, विकलांगों और अनार्थों की सेवा का क्षेत्र हो, प्राकृतिक विपदाओं में सहायता देने का प्रश्न हो। इनमें भी अधिक जहां सामाजिक मर्यादाओं का प्रश्न हो, जहां नैतिकता और प्रामाणिकता के नियमों का प्रश्न हो वहां सभी सम्प्रदाय एक सूत्र में बंधे—यह मेरा विनम्र अनुरोध है।

आचार्य महाप्रज्ञ अपनी पुस्तक 'जैन दर्शन और अनेकान्त' में अनेकान्त को सब समस्याओं का समाधान बताते हुए लिखते हैं—जैन परम्परा के आज अनेक सम्प्रदाय हैं, उनमें

अनेक मतभेद भी हैं। यदि अनेकान्त के आधार पर मतभेद का मूल खोजा जाए, भिन्न विचारों की समीक्षा की जाए तो शायद भेद के लिए कितना बचेगा, मैं कह नहीं सकता। हो सकता है—कुछ भी न बचे। किन्तु इस दशा में बहुत कम काम हुआ है। अनेक प्रसंगों में आग्रह बढ़ाने में ज्यादा रस लिया गया, अनेकान्त का प्रयोग नहीं किया गया। आज हमारे सामने प्रश्न है—जैन समाज को विरासत में जो एक महान् दर्शन मिला है, जगत् को देखने का एक सम्यक् और व्यापक दृष्टिकोण मिला है, यदि उसका सम्यक् प्रयोग किया जाए तो शायद अनेकान्तवाद पूरे संसार को एक नया दृष्टिकोण और एक नया दर्शन दे सकता है। अनेकान्तवाद का यह दृष्टिकोण अनेक मिथ्या अभिनिवेशों, आग्रहों को मिटाने और एक सामंजस्यपूर्ण समाज की संरचना करने में बहुत सहयोगी बन सकता है, उपयोगी हो सकता है।

आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने अनेकान्त को अन्तर्भाव देखने का तीसरा नेत्र माना है, जिसे खोलने से सभी विवादों को सुलझाया जा सकता है और संघर्ष की चिनगारियों को शान्त किया जा सकता है।

ए-7, श्याम नगर, सोडाला
जयपुर (राजस्थान)

पारिवारिक शान्ति और अनेकान्त

—डॉ. बच्छराज ढूण्ड

मानव समूह में परिवार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्राथमिक समूह है। अहिंसा, शांति, प्रेम और सहिष्णुता के धरातल पर ही परिवार की रचना सुदृढ़ हो सकती है। शारीरिक शक्ति पर आधारित अनियंत्रित सत्ता से प्रारम्भ होकर न्याय तथा पारस्परिक सहयोग पर आधारित समता में ही पारिवारिक जीवन का विकास हुआ है। प्रौद्योगिक क्रान्ति, वैज्ञानिक उपलब्धियों एवं यंत्रों के आविष्कार ने उपयोगितावादी प्रवृत्ति को बढ़ा दिया है। फलतः व्यक्ति परिवार रूपी उस इकाई से मुंह मोड़ रहा है जिसने व्यक्ति में समतावादी संस्कृति एवं सुख-दुख बांटने की प्रवृत्ति को विकसित किया था। कोई भी व्यक्ति या राष्ट्र चाहे कितना भी विकास क्यों न कर ले, मूल व्यवस्था जो मानवता व मानवीय मापदण्ड की आधारशिला है, यदि उस पर ही कुठाराघात होने लगे तो विकास को अनर्थ में बदलने की संभावनाएं प्रबल हो जाती हैं। इसलिए व्यक्ति और समाज के लिए केन्द्र बिन्दु का कार्य करने वाले परिवार को बचाने में विश्व को प्रयत्नशील होना पड़ रहा है।

व्यक्ति के लिए मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही पर्याप्त नहीं है, उसके सर्वांगीण विकास के लिए भावनात्मक सुरक्षा, ममत्व की टंडी छाया, स्नेह और प्रेम का स्रोत तथा विश्वास एवं संस्कार निर्माण की आवश्यकता भी होती है, जिसकी पूर्ति परिवार ही कर सकता है। व्यक्ति बिना परिवार जी तो सकता है पर उस जीवन की कल्पना कितनी भयावह होगी जिसमें भावनाओं के आदान-प्रदान के लिए कोई हमदर्द नहीं, समय के झंझावातों को झेलने में सहायता करने वाला एवं समस्या के समाधान सूत्र सुझाने वाला कोई न हो। यही कारण है कि विश्व के समाजशास्त्री एवं मनोवैज्ञानिक परिवार की प्रासंगिकता को पुनः स्वीकार करने लगे हैं।

परिवार का होना बहुत मूल्यवान नहीं है, मूल्य है पारिवारिक सौहार्द एवं शांति का। शांति के अभाव में जीवन टिक तो सकता है, किन्तु वह समरसता और जीवट नहीं रह पाता जो व्यक्ति को आह्लाद की अनुभूति देता है।

पारिवारिक शांति परिवार की वह स्थिति है जहां परिवार के सदस्यों के बीच सौहार्दपूर्ण व्यवहार के साथ परस्पर सहयोग एवं विकास के लिए आत्मिक तत्परता का भाव निहित हो। पारिवारिक शांति परिवार के विघटन को ही नहीं रोकती, परिवार के पुनर्गठन का कार्य भी करती है। परिवार प्रेम पाने, प्रेम करने, सुरक्षा एवं यौन संबंधों के साथ-साथ मानसिक एवं भावनात्मक संबंधों की प्रवृत्ति पर टिका है। जब तक मानव की ये प्रवृत्तियां रहेंगी, पारिवारिक संगठन विघटन के अनेक तत्त्वों के बावजूद बना रहेगा।

पारिवारिक अशांति

परम्परागत परिवार स्थिर प्रकार के थे, उनमें सामाजिक गतिशीलता कम थी तथा स्त्रियों का परिवार ही एक मात्र आश्रय-स्थल था। आधुनिक परिवारों में परिवार का अपने सदस्यों पर नियंत्रण कम हुआ है, उनमें एकता और विश्वास का अभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। कामकाजी महिलाओं की समस्या ने न केवल बच्चों के विकास को अवरुद्ध किया है, अपितु पति-पत्नी के झगड़े भी बढ़े हैं। वैवाहिक बंधन शिथिल हुए हैं एवं लैंगिक संबंधों में विश्वसनीयता के प्राचीन आदर्श पर कुप्रभाव पड़ा है। परिणामतः आधुनिक परिवारों में न केवल अस्थिरता बढ़ी है, उनका नैतिक पतन भी हुआ है। पारिवारिक स्थायित्व एवं शांति समान व्यक्तिगत संबंधों पर निर्भर है। ये संबंध पारिवारिक तो होते ही हैं, प्रत्येक सदस्य दूसरों के साथ सहयोग करता हुआ अपनी भूमिका का निर्वाह भी करता है। जब कभी इन समूहगत संबंधों में दरार आती है तो पारिवारिक अशांति प्रत्यक्ष हो जाती है।

अशांति का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक संदर्भ—

परिवार में शारीरिक दण्ड एक सामान्य घटना है। शारीरिक दण्ड एक बच्चे को यह बतलाता है कि उसे कौन-सा कार्य करना चाहिए और कौन-सा कार्य नहीं। इस सबक के अतिरिक्त कुछ अन्य सबक भी उसके व्यक्तित्व के अभिन्न अंग बन कर दूसरों के प्रति उसके दृष्टिकोण को प्रभावित करते हैं। जैसे उसे प्यार करने वाले लोग ही उसे पीटते भी हैं। दण्ड दूसरे परिवार के सदस्यों को पीटना भी नैतिक रूप से सही ठहरा देता है और अन्ततः यही सबक एक व्यक्ति के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण का अभिन्न अंग बन कर पारिवारिक संबंधों विशेषकर बच्चे और अभिभावक एवं पति-पत्नी के संबंधों में शारीरिक दण्ड को उचित ठहरा देता है। परिवार में हिंसा का निरीक्षण भी अधिकांश व्यक्तियों के लिए हिंसा के प्रशिक्षण का सशक्त स्रोत होता है। प्रताड़ना के शिकार व्यक्ति ऐसे दुर्व्यवहार अथवा हिंसा को एक मूल्य समझने लगते हैं। हमारे सांस्कृतिक मानक भी परिवार के सदस्यों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे शारीरिक दण्ड एवं दुर्व्यवहार की अनुमति देते हैं। मार-पीट अथवा परस्पर के दुर्व्यवहार से बचना चाहिए— ऐसे अनुभवों के बावजूद प्रायः यही सबक ध्यान में रखा जाता है कि

परिवार में दुर्व्यवहार एवं शारीरिक मार-पीट सामान्य जीवन का अंग है। सांस्कृतिक मानकों का समाज ही हनन करता है। इन मानकों में उतार-चढ़ाव समाज के स्वरूप के कारण ही है। वस्तुतः पारिवारिक अशांति के कारण हमें सामाजिक संरचना में ही खोजने चाहिए।

पारिवारिक अशांति के मनोवैज्ञानिक संदर्भ के अन्तर्गत पारिवारिक संबंधों में मनोवैज्ञानिक आक्रामकता तथा इससे शारीरिक दण्ड का साहचर्य प्रमुख है। पारिवारिक संबंधों में मनोवैज्ञानिक आक्रामकता के मापन में कई कठिनाइयाँ हैं। उदाहरणतः एक ही व्यवहार अलग-अलग संदर्भों में तथा ध्वनि, मुद्रा एवं भाव के अत्यल्प परिवर्तन से प्रसन्नता तथा आक्रामकता की अभिव्यक्ति कर सकता है। समान तथा संतुलित संबंधों में आक्रामकता दुर्व्यवहार नहीं समझी जाती है, जबकि असमान संबंधों उदाहरणतः बच्चों और अभिभावक के बीच आक्रामकता दुर्व्यवहार समझी जाती है। अकेलेपन, अपमान, धमकी आदि के द्वारा एक व्यक्ति के मन में भय की भावना पैदा कर उसके आत्म-सम्मान को चोट पहुंचाने की प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक आक्रामकता का सामान्य उदाहरण है।

मनोवैज्ञानिक आक्रामकता का कुछ सीमा तक शारीरिक दण्ड से भी संबंध है। सर्वेक्षण यह दर्शाता है कि मनोवैज्ञानिक आक्रामकता का वैवाहिक जीवन के संघर्ष, नशे की लत तथा घर के बाहर वाचिक आक्रामकता एवं शारीरिक आक्रामकता के प्रयोग की स्वीकृति के साथ घनिष्ठ संबंध है।

दुर्व्यवहार का अवलोकन एवं पारिवारिक अशांति

ऐसे बहुत से व्यक्ति जो अपनी पत्नी के साथ अथवा बच्चे के साथ दुर्व्यवहार करते हैं अथवा उन्हें शारीरिक प्रताड़ना देते हैं; उनके ऐसे व्यवहार का समाजीकरण बाल्यकाल में माता-पिता के बीच ऐसे व्यवहार के अवलोकन से होता है। अध्ययन का यह निष्कर्ष है कि पिता द्वारा माता के साथ दुर्व्यवहार और पति द्वारा पत्नी के साथ दुर्व्यवहार के बीच सीधा संबंध है। ऐसे व्यक्ति जिनका मद्यपान का पूर्व इतिहास है, वे उन लोगों की अपेक्षा पारिवारिक अशांति के अधिक जिम्मेदार होते हैं जिनका मद्यपान का पूर्व इतिहास नहीं है। मद्यसेवी व्यक्ति हिंसा का बार-बार सहारा लेते पाये गये हैं।

बच्चों एवं महिलाओं के समान ही वृद्धों के साथ दुर्व्यवहार भी पारिवारिक अशांति का एक समकालीन घटक है। इस शताब्दी में औसत आयु में वृद्धि के कारण वृद्धों की संख्या एवं वृद्धों की आयु में लगातार वृद्धि दर्ज की जा रही है। वृद्ध सदस्य की अन्य सदस्यों पर निर्भरता, वृद्धों का पूर्व व्यवहार, परिवार की आर्थिक तंगी आदि कुछ ऐसे कारण हैं जो पारिवारिक अशांति पैदा कर देते हैं।

पारिवारिक अशांति के परिणाम

पारिवारिक अशांति के परिणाम निषेधात्मक और व्यापक होते हैं। निषेधात्मक अभिवृत्तियों के निर्माण से मनोकायिक प्रतिक्रियायें गंभीर स्वास्थ्य समस्याएं पैदा करती हैं।

अवसाद और आत्म-हत्या के मामलों में वृद्धि तथा मद्य एवं अन्य नशीले पदार्थों के सेवन में बेतहाशा वृद्धि हो रही है।

सामाजिक पृथक्करण के कारण बच्चों के प्रति दुर्व्यवहार एवं प्रतिरोधी हिंसा में भी वृद्धि अंकित की जा रही है। पीड़ित व्यक्ति निरन्तर आत्म-सम्मान की कमी के साथ अवसादग्रस्त होकर संज्ञा-शून्य हो जाते हैं। अशांति से उपजे तनाव, अवसाद आदि मानसिक स्वास्थ्य के साथ शारीरिक स्वास्थ्य पर भी गम्भीर प्रभाव डालते हैं। जिन परिवारों में स्त्रियों के प्रति दुर्व्यवहार अथवा उन्हें प्रताड़ित करने का व्यवहार अधिक है, वहां वे महिलाएं गंभीर मनोवैज्ञानिक व्यथा की शिकायत भी करती हैं। ऐसी महिलाएं या तो संवेदनहीन हो जाती हैं या फिर प्रतिक्रिया स्वरूप पुरुषप्रधान समाज पर विजय पाने की कोशिश करती हैं। पारिवारिक अशांति, घरेलू हिंसा एवं अन्य सामाजिक समस्याओं के निराकरण हेतु हमारे प्रयत्न समस्या के सामाजिक स्वरूप की जांच कर पीड़ित के सामाजिक स्तर और उसके शक्ति संवर्द्धन के लिए तो होने ही चाहिए, साथ ही सदस्यों के मेल-मिलाप एवं परस्पर सहिष्णु बनाने की दृष्टि से अनेकान्त आधारित प्रयोग भी आवश्यक है।

पारिवारिक अशांति के सिद्धान्त

पारिवारिक अशांति के सिद्धान्तों को मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है—

1. व्यक्ति केन्द्रित सिद्धान्त
2. परिवार केन्द्रित सिद्धान्त
3. समाज शास्त्रीय सिद्धान्त।

व्यक्ति केन्द्रित सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि कैसे प्रताड़क और पीड़ित की व्यक्तित्व विशेषता पारिवारिक अशांति को बढ़ावा देती हैं। यद्यपि व्यक्तित्व की ऐसी मनोवैज्ञानिक विशेषताओं को सर्वसम्मत रूप से उद्घाटित नहीं किया जा सका है। मूलतः पारिवारिक अशांति की जड़ें जैविक भिन्नताओं, व्यक्तित्व विशेषताओं एवं अतीत काल के अनुभवों में छिपी होती हैं। उदाहरणतः कुछ व्यक्ति बचपन के अनुभवों के आधार पर हिंसा के प्रति दीर्घकालिक आकर्षण पैदा कर लेते हैं, जबकि कुछ व्यक्ति आत्म-नियंत्रण एवं आत्म-विश्वास की कमी की भावना से ग्रस्त होने के कारण तथा कुछ व्यक्ति शक्तिहीन होने के कारण दुर्व्यवहार एवं हिंसा का सहारा लेते हैं। अध्ययन के अनुसार अवसाद, खंडित मानसिकता आदि असामान्य व्यवहार हिंसा एवं दुर्व्यवहार की क्षमता को बढ़ा देते हैं। कुछ अध्ययन टेस्टोस्टेरोन एवं किशोरों की हिंसक क्रियाओं के बीच घनिष्ठ संबंध दर्शाते हैं। मेरे निष्कर्षानुसार पीड़ित व्यक्ति की व्यक्तित्व विशेषताएं जैसे— भय, संबंधों को तोड़ना, हिंसक प्रतिक्रिया आदि भी पारिवारिक अशांति के लिए जिम्मेवार होती हैं।

परिवार केन्द्रित सिद्धान्त के अनुसार जैसा कि अध्ययन का निष्कर्ष भी है; योग्यता एवं रुचि को ध्यान में रखे बिना आयु एवं लिंग के आधार पर जिम्मेदारियों को बांट देना

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

परिवार में अशांति का प्रमुख कारण होता है। जिन परिवारों में मित्रवत् संबंधों की कमी है अथवा जो समाज से कटे हुए हैं वे पारिवारिक अशांति के अधिक शिकार होते हैं।

समाजशास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार छोटे-छोटे समूहों में हिंसा की उप संस्कृति हो जाती है, जो वर्तमान मूल्यों एवं मापदण्डों को भिन्न संदर्भों में प्रतिस्थापित कर कलह एवं हिंसा फैलाती हैं, जिनका शिकार परिवार भी हो जाता है। यहां रोकथाम के उन प्रयत्नों की अपेक्षा है जिससे हिंसा भावी पीढ़ी में संक्रान्त न हो।

सामान्य व्यवस्था सिद्धान्त के अनुसार पारिवारिक व्यवस्था अशांति के लिए जिम्मेदार होती है। संसाधन सिद्धान्त के अनुसार जिन व्यक्तियों के पास सामाजिक वैयक्तिक संसाधन कम होते हैं, ऐसे व्यक्ति प्रभुत्व स्थापित करने की दृष्टि से परिवार के अन्य सदस्यों के साथ या तो दुर्व्यवहार करते हैं अथवा शारीरिक प्रताड़ना द्वारा उन पर प्रभुत्व स्थापित करने की कोशिश करते हैं। पारिस्थितिकी सिद्धान्त के अनुसार पारिवारिक अशांति बच्चों एवं अभिभावक, परिवार एवं पड़ोस के बीच बेमेल संबंधों से उत्पन्न होती है अर्थात् ऐसे संबंधों में या तो तनाव की स्थिति हो अथवा लक्ष्य प्राप्ति में कोई रुकावट हो तो पारिवारिक अशांति पैदा हो जाती है। सामाजिक नियंत्रण सिद्धान्त के अनुसार पड़ोसियों के साथ बेमेल संबंध परिवार के परिवेश पर कुप्रभाव डालते हैं। पुरुषप्रधान पारिवारिक ढांचा पारिवारिक अशांति का ऐतिहासिक कारण है ही।

पारिवारिक शांति एवं अनेकान्त

अशांति का मूल आग्रह है तथा आग्रह की स्थिति में अपने विचारों के प्रति मोह एवं दूसरों के विचारों के प्रति तिरस्कार का भाव रहता है। आग्रह असहिष्णुता को एवं असहिष्णुता संघर्ष, हिंसा एवं अशांति को जन्म देती है। अनेकांत जगत की स्थूल और सूक्ष्म दोनों अवस्थाओं को जानने की दार्शनिक विधि है जिसके द्वारा अनाग्रह का विकास किया जा सकता है, विवादों को सुलझाया जा सकता है तथा संघर्ष को समाप्त कर पारिवारिक शांति प्राप्त की जा सकती है। परस्पर विरोधी रुचि, आदत, संस्कार आदि के फलस्वरूप आज प्रत्येक परिवार विवाद, संघर्ष, हिंसा एवं अशांति से पीड़ित हैं। जब हम परस्पर विरोधी लगने वाले तथ्यों को अनेकान्त की दृष्टि से देखते हैं तो समाधान मिलने की संभावना प्रबल हो जाती है। पारिवारिक शांति हेतु अनेकान्त सहिष्णुता, सामंजस्य, सहअस्तित्व, सापेक्षता एवं समन्वय - ये पांच सूत्र देता है, जिनके आधार पर शांतिपूर्ण पारिवारिक सहवास संभव हो सकता है।

अनेकांत सह-अस्तित्व की व्याख्या व्यावहारिकता के धरातल पर करता है। पदार्थ की प्रकृति ही ऐसी है कि उसमें परस्पर विरोधी तत्त्वों का समावेश होता है। अनेकान्त को समझ लेने पर पारिवारिक जीवन में व्यक्ति भिन्न रुचि, आदतें एवं संस्कार आदि को भिन्न दृष्टि से समझने के योग्य हो जाता है। वह दूसरों के विचारों को आदर देने लगता है तथा इस तरह परिवार में शांत सहवास की भावना का विकास होता है।

बीस परिवारों के सदस्यों पर किये गये अध्ययन के अनुसार अरुन्धी प्रतिशत परिवार पारिवारिक समस्याओं का निदान अहिंसात्मक तरीकों से करने के पक्षधर थे। बीस प्रतिशत परिवारों का यह मानना था कि आवश्यकतानुसार न्यायालय की शरण अथवा अन्य हिंसात्मक कार्यवाही का उपयोग भी किया जा सकता है। पारिवारिक समस्याओं के निदान हेतु उनके प्रमुख अहिंसात्मक तरीके विचार-विमर्श, मध्यस्थता, पारिवारिक गोष्ठी, सौहार्द, सामंजस्य एवं सहिष्णुता का विकास आदि थे। जबकि पारिवारिक शांति बनी रहे इसके लिए वे कार्यों का उचित विभाजन, सभी सदस्यों की भावना का आदर, परस्पर सहयोग एवं सामंजस्य की प्रवृत्ति; पारिवारिक गोष्ठी तथा ध्यान, योग एवं अनुप्रेक्षा का अभ्यास आदि आवश्यक मानते थे।

अध्ययन के अनुसार प्रयोग समूह के सदस्यों की दृष्टि में विचार-विमर्श पारिवारिक शांति का प्रथम उपाय है जबकि मार-पीट एवं तानाशाही अंतिम।

अध्ययन के लिए प्रयुक्त बीस परिवारों के सदस्यों में से पन्द्रह सदस्य अनेकान्त एवं सापेक्षता, सह-अस्तित्व आदि सिद्धान्तों से परिचित थे तथा वे पारिवारिक शांति के लिए समान जीवन स्तर अथवा समान विचार धारा को आवश्यक नहीं मानते जबकि जो पांच सदस्य अनेकान्त से परिचित नहीं थे, उनमें से चार का यह मानना था कि पारिवारिक शांति के लिए समान विचारधारा होना आवश्यक है। यद्यपि इनमें से दो परिवार समान जीवन स्तर में विश्वास नहीं करते थे जबकि अन्य तीन का मानना था कि पारिवारिक शांति के लिए जीवन स्तर का समान होना भी आवश्यक है।

अध्ययन का यह निष्कर्ष भी है कि पारिवारिक शांति के लिए ये सभी परिवार अनेकांत को प्रायः प्रासंगिक मानते हैं। उनका यह मानना था कि अनेकान्त एक व्यावहारिक सिद्धान्त है जिसका प्रयोग वे पारिवारिक शांति के लिए जाने अनजाने करते ही हैं। जो अनेकान्त से अपरिचित थे उन्होंने इस पर अपनी कोई राय व्यक्त नहीं की। लेकिन जब उन्हें अनेकान्त एवं उसके उपयोग से परिचित कराया गया तो उनका यह मानना था कि पारिवारिक शांति के लिए कुछ सीमा तक अनेकांत का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन जहां आर्थिक समस्याओं के कारण अशांति है उसके लिए अनेकान्त कारगर उपाय नहीं हो सकता।

पारिवारिक अशांति का उपचार : अनेकांत आधारित प्रयोग

पारिवारिक जीवन के विरोधी प्रश्नों का समाधान अनेकान्त द्वारा संभव है। अनेकांत अनाग्रही दृष्टि है जो सम्पूर्ण सत्य का ज्ञान दे सकती है। एकान्त दृष्टि सत्य की बाधक एवं अशांति का मूल है। दूसरों के सत्य को झुठलाकर सम्पूर्ण सत्य को नहीं प्राप्त किया जा सकता, क्योंकि सत्य विवाद में नहीं, समन्वय में प्रकट होता है। केवल स्वयं के दृष्टिकोण के प्रति ही आग्रह रखकर न तो पारिवारिक कलह का शमन हो सकता है और न मैत्री का विकास ही। स्वयं के भावनात्मक संवेगों पर नियंत्रण रखकर दूसरे के विचारों के प्रति

सहिष्णुता एवं उनको समझने की कोशिश ही पारिवारिक शांति को फलित कर सकती है। उग्र स्वभाव वाले सदस्य के साथ व्यवहार चिकित्सा प्रभावी होती है। इस चिकित्सा में विधेयात्मक व्यवहार का शिक्षण दिया जाता है तथा उस सदस्य को यह सिखाया जाता है कि कैसे विधेयक व्यवहार के लिए पुरस्कृत किया जाय एवं कैसे अहिंसात्मक अनुशासन की आदत डाली जाये। अनेकान्त आधारित प्रयोगों में विधेयात्मक दृष्टिकोण के विकास हेतु अनुप्रेक्षाओं के अभ्यास का सहारा लिया गया। यद्यपि अल्पकालिक प्रयोगों से उग्र व्यवहार पर पूर्ण नियंत्रण तो नहीं हो सका किन्तु उग्र व्यवहार के स्थान पर शांति पूर्ण विकल्पों को विकसित करने में सहयोग अवश्य मिला। एक बार जब उग्र स्वभाव वाला व्यक्ति यह अनुभव कर लेता है कि उसके व्यवहार ने किसी को कष्ट पहुंचाया है तो अगले स्तर पर उसमें आत्म-निरीक्षण एवं संबंध निर्माण की तत्परता रहती है। इस स्तर पर यह सदस्य दूसरों की अनुभूतियों को अनुभव करता है तथा अपने उग्र व्यवहार के लिए उत्तरदायी कारणों को उद्घाटित करता है। इस सदस्य की अनुभूति दूसरों के प्रति संवेदना एवं सहानुभूति का आधार तैयार करती है।

समूह सहभागिता के अन्तर्गत जब समूह में किसी समस्या पर एक दूसरे के विचार सुनते हैं तथा समान समस्या पर एक दूसरे के विचारों एवं दूसरे व्यक्तियों के क्या निष्कर्ष हैं; इनके आदान-प्रदान से उद्घाटित विचार एवं अनुभवों का उपचारात्मक प्रभाव देखने को मिलता है। ऐसे एक उपचारात्मक सत्र, जिसमें 15 दिनों में 12 घण्टे का समय दिया गया एवं व्यक्तिगत परामर्श भी समाविष्ट रहा, के निष्कर्ष ये दर्शाते हैं कि सहभागी व्यक्ति में चिन्ता, अवसाद एवं द्वेष की भावना में कमी तथा त्रुटियों के आत्म-स्वीकरण से आत्म-सम्मान की अनुभूति हुई। यद्यपि इस कार्यक्रम का अनुवृत्ति कार्यक्रम नहीं किया जा सका जिससे यह पता लग सकता कि इन व्यक्तियों पर उस सत्र का प्रभाव दीर्घावधि तक बना रहा या नहीं। यह प्रयोग पारिवारिक समस्याओं के निदान हेतु सहासिका का अनेकान्त आधारित प्रयोग था जो पारिवारिक शांति की दृष्टि से कारगर कहा जा सकता है।

पारिवारिक शांति हेतु अनेकांत के मुख्य प्रयोग अहिंसा प्रशिक्षण एवं अनुप्रेक्षाओं पर आधारित है —

- (i) अन्तर्जगत् में प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण तत्त्व संवेग संतुलन है। क्रोध, भय, घृणा, द्वेष आदि संवेग पारिवारिक अशांति के रूप में अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करते हैं। संवेग संतुलन के लिए अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास अत्यन्त कारगर है।
- (ii) मानवीय संबंधों का परिष्कार, प्राणी जगत् के साथ संबंधों का विस्तार एवं पदार्थ जगत् के साथ संबंधों की सीमा— ये तीन सूत्र बाह्य जगत् के प्रशिक्षण के लिए हैं।

पारिवारिक शांति हेतु प्रयुक्त प्रशिक्षण के चार आयाम हैं— हृदय परिवर्तन, विचार परिवर्तन, जीवन-शैली परिवर्तन एवं व्यवस्था परिवर्तन। **हृदय परिवर्तन** मूलतः व्यवहार

चिकित्सा है जो सुझाव, भाव-परिवर्तन, अनुसरण आदि मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित है। **विचार परिवर्तन** मिथ्या दृष्टिकोण, मिथ्या धारणा एवं निरपेक्ष चिन्तन को परिवर्तित करने का प्रयोग है। इसके अन्तर्गत हम एक व्यक्ति को व्यवहार के लिए विकल्पों के चयन में सहयोग कर अथवा विभिन्न विकल्प प्रस्तुत कर उसे सत्य के बहुविध स्वरूप से परिचय करा सकते हैं। **जीवन-शैली परिवर्तन** के प्रयोगों द्वारा इच्छा-संयम, श्रम-निष्ठा, स्वालम्बन एवं व्यवस्था परिवर्तन के प्रशिक्षण के अन्तर्गत पारिवारिक संरचना, सदस्यों के बीच संचार, साधन शुद्धि, संसाधनों का समान वितरण, मानव संबंधों में सुधार आदि के प्रशिक्षण द्वारा पारिवारिक शांति को उपलब्ध हुआ जा सकता है।

हृदय परिवर्तन, विचार परिवर्तन एवं जीवन-शैली परिवर्तन हेतु मुख्य प्रयोग अनुप्रेक्षा है। मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन जब बार-बार किया जाता है, तो उससे मन प्रभावित होता है। व्यक्ति जिस परिवर्तन के लिए भावना करता है उसी रूप में उसके संस्कार निर्मित हो जाते हैं। सुझाव के द्वारा व्यक्ति की चेतना में बदलाव प्रारम्भ होता है जिससे आदतें बदली जा सकती हैं अर्थात् एक ही विचार अथवा भावना की बार-बार आवृत्ति तरंगें पैदा करती हैं; जो पुराने संस्कारों को उखाड़ कर नये संस्कार का सृजन कर देती हैं।

अध्ययन के अनुसार सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, समन्वय, सापेक्षता आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करने पर 62 प्रतिशत व्यक्तियों का यह निष्कर्ष था कि उन्हें इससे पारिवारिक शांति में सहयोग मिलेगा। उनका यह भी मानना था कि ये अनुप्रेक्षाएं पारिवारिक शांति के लिए दीर्घकालिक अभ्यास के उपरांत अत्यंत कारगर हो सकती हैं। यद्यपि हमने दीर्घकालिक प्रयोगों का आयोजन नहीं किया लेकिन अल्पकालीन प्रयोगों के तात्कालिक परिणाम उत्साह वर्धक रहे।

अनेकान्त आधारित उपर्युक्त प्रयोगों के अतिरिक्त पारिवारिक शांति हेतु कुछ और प्रयोग हैं। पारिवारिक चिकित्सा के प्रयोग के अन्तर्गत प्रताड़क और पीड़ित दोनों की एक साथ चिकित्सा की जाती है। चिकित्सा का यह सिद्धान्त उपेक्षित परिवारों के लिए विशेष रूप से उपयोगी है। इस विधि का मुख्य घटक पीढ़ी-दर-पीढ़ी संक्रान्त हुए विचारों को समझना है। सदस्यों को पारिवारिक इतिहास जानकर यह समझना चाहिए कि वर्तमान अशांति के घटकों का उद्गम किस पीढ़ी से संक्रान्त हुआ है। समुदाय आधारित उपचार में एक परिवार को उसके घर पर ही मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्न के साथ ही सदस्यों की सार-संभाल तथा कानूनी सहयोग उपलब्ध करवाने का प्रयास किया जाता है जिससे भविष्य में पारिवारिक अशांति को कम किया जा सके।

उपचार की एक अन्य पद्धति, व्यापक सेवा योजना के अनुसार व्यक्ति में उग्र व्यवहार की प्रवृत्ति किसी एक घटक के कारण नहीं होती है, इसके लिए अनेक घटक एक साथ जिम्मेदार होते हैं। इसलिए किसी एक घटक को लेकर व्यापक सेवा योजना प्रदान करना किसी सदस्य के

उग्र व्यवहार को नियंत्रित कर सकता है। इस कार्यक्रम का उद्देश्य परिवार की अशांति के चक्र को तोड़कर पारिवारिक कार्यकलापों में उच्चस्तरीय सहयोग प्राप्त करना है।

पारिवारिक चिकित्सा, समुदाय आधारित चिकित्सा एवं व्यापक सेवा योजना के अतिरिक्त प्रेम बनाम नियंत्रण का सिद्धान्त भी अति महत्त्वपूर्ण है। प्रेम एवं स्नेह के द्वारा उपचार के अन्तर्गत प्रशिक्षक सहानुभूति एवं प्रेम-पूर्वक मध्यस्थता, समस्या विश्लेषण तथा उपचारात्मक परिवर्तन के साथ अदंडात्मक नीति अपनाता है। परिणामतः तनाव दूर होकर अभिवृत्ति परिवर्तन हो जाता है। यह प्रयोग मुख्यतः पीड़ित व्यक्तियों के उपचार हेतु प्रयुक्त होता है। नियंत्रण का प्रयोग प्रताड़क पर किया जाता है। गिरफ्तारी, दण्ड तथा बच्चों एवं पत्नी को प्रताड़ित करने वाले के रूप में सार्वजनिक होने का भय ऐसे व्यक्ति के दुर्व्यवहार पर नियंत्रण कर सकता है। पारिवारिक अशांति के लिए जिम्मेवार दुर्व्यवहारों की रोकथाम के लिए कानूनी नियंत्रण तभी वांछनीय है जब उसमें हिंसा का समावेश हो अन्यथा प्रेम सहानुभूति पूर्वक व्यवहार ही पीड़ित एवं प्रताड़क दोनों में वांछित परिणाम ला सकता है।

उपर्युक्त उपचार कार्यक्रमों के अतिरिक्त तनाव, क्रोध एवं कलह-प्रबंधन, कौशल निर्माण, शैक्षिक कार्यक्रम आदि के साथ-साथ पारिवारिक शांति के लिए समाज द्वारा हिंसा उत्प्रेरित तनाव को कम करना, कुटुम्बजनों को समुदायिक नेटवर्क से जोड़ना, परिवार में हिंसा के चक्र को तोड़ना, नशावृत्ति पर रोकथाम एवं लैंगिक आधार पर विषमताओं को कम कर पारिवारिक संचार स्थापित करना महत्त्वपूर्ण है, जिनका कमोबेश समावेश अनेकांत के प्रयोगों में हो जाता है। अतएव अनेकान्त पारिवारिक शांति की दृष्टि से उपयोगी ही नहीं, अपरिहार्य भी है।

विभागाध्यक्ष,
अहिंसा एवं शांति विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनू-341 306 (राजस्थान)

महावीर का अनेकान्त : सामाजिक विमर्श

—शुभ्र पटवा

अनेकांत और स्यादवाद जैसे दार्शनिक सिद्धांतों के प्रणेता श्रमण भगवान महावीर ने कोई छब्बीस सौ वर्ष पूर्व चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (30 मार्च, ईस्वी पूर्व 599) की मध्यरात्रि को जन्म लिया। जहां यह बालक जन्मा उस जनपद का नाम विदेह और नगर का नाम क्षत्रियकुण्ड (तत्कालीन वज्जि गणराज्य, जिसकी राजधानी वैशाली थी) था। पिता थे महाराज सिद्धार्थ और मां का नाम त्रिशला था। जन्म के बारह दिन बाद बालक का नामकरण हुआ। नाम रखा गया वर्द्धमान। राजकुमार वर्द्धमान जब युवा हो गए तो कलिंग नरेश जितशत्रु की पुत्री यशोदा के साथ विवाह-प्रस्ताव महाराज सिद्धार्थ के पास आया। रानी त्रिशला और सिद्धार्थ ने यह प्रस्ताव राजकुमार वर्द्धमान के सम्मुख रखा। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार माता-पिता के स्नेह के सामने वर्द्धमान झुक गए। उन्होंने विवाह कर लिया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार वर्द्धमान ने विवाह का प्रस्ताव टुकरा दिया। वे जीवन-भर ब्रह्मचारी रहे।¹ माता-पिता के प्रति राजकुमार वर्द्धमान का प्रगाढ़ स्नेह था। इसीलिए वर्द्धमान ने संकल्प कर लिया कि अपने माता-पिता के जीवनकाल में वे मुनि नहीं बनेंगे। इसी निश्चय के चलते वर्द्धमान ने 28-30 वर्ष की वय के बाद ही मुनि-दीक्षा ग्रहण की। माता-पिता की मृत्यु के दो वर्ष बाद ही वर्द्धमान के गृह-त्याग (अभिनिष्क्रमण) का उल्लेख है, पर दो वर्ष तक घर में रहते हुए भी वे कठोर साधना में रत रहे। दो वर्ष की इस अवधि में अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य के सूत्रों को बहुत बारीकी के साथ उन्होंने पकड़ा। अहिंसा की साधना में जीव-मात्र के प्रति मैत्री भाव, सत्य-साधना के माध्यम से अनासक्ति का विकास और ब्रह्मचर्य की साधना से उन्होंने अस्वाद का अभ्यास किया।²

अपने अभिनिष्क्रमण के साथ महावीर ने दीक्षित होने का संकल्प लेते हुए कहा— “मेरी स्वतंत्रता में बाधा डालने वाली जो भी परिस्थितियां उत्पन्न होंगी, उनका मैं सामना करूंगा, उनके सामने कभी नहीं झुकूंगा। मुझे अपने शरीर का विसर्जन मान्य है, पर परतंत्रता का वरण मान्य नहीं होगा।”³ हम ध्यान दें— जिन भगवान महावीर की छब्बीस सौवीं जन्म-जयंती समूचा राष्ट्र वर्ष-भर मनाने वाला है, उन महावीर ने अपनी स्वतंत्रता के लिए अभिनिष्क्रमण किया था। राष्ट्रों की स्वतंत्रता के प्रति सचेष्टता के इस काल में महावीर की तरह वैयक्तिक स्वतंत्रता के प्रति उतनी सचेष्टता आज नजर नहीं आ रही।

महावीर की साधना की फलश्रुति उनका अनेकांत और स्याद्वाद का दर्शन है। अहिंसा, अपरिग्रह और सत्य के सूत्रों से वे वैयक्तिक स्वतंत्रता की गारण्टी देते प्रतीत होते हैं। इसी तरह ब्रह्मचर्य और अस्तेय के सूत्र समाज में व्याप्त अराजकता को नियंत्रित कर देने के सहज अस्त्र सिद्ध हो सकते हैं। महावीर के इन्हीं पांच सूत्रों और उनके अनेकांत दर्शन पर वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विशद चर्चा की आवश्यकता है।

अनेकांत या स्याद्वाद किसी अन्य सिद्धान्त के खंडन-मंडन में विश्वास नहीं करता। अनेकांत का आशय ही अन्य विचारों को समझने का विनम्र प्रयास है। अनेकांत नहीं मानता कि अन्य सिद्धान्तों का खंडन किए बिना अपने सिद्धांत की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। अनेकांत के मान्य व्याख्याकार आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं— ऐसा मान लिया गया है कि अपने से भिन्न सिद्धांतों और नीतियों का खण्डन किए बिना स्वीकृत सिद्धांतों की प्रतिष्ठा नहीं की जा सकती। अनेकांत का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। उसके अनुसार स्वीकृत सिद्धांतों और नीतियों की सच्चाई तभी प्रकट होती है जब वे अपने सक्रिय और दूसरों के प्रति तटस्थ होते हैं। वे एक जगह कहते हैं किसी वस्तु को एक दृष्टिकोण से मत देखो। अपनी पूर्व धारणा के दृष्टिकोण से मत देखो। वस्तु में जो है, उसे ही देखो और जितने वस्तु धर्म हैं, उतने ही दृष्टिकोण से देखो। भारतीय मानस में आज भी अनेकता में एकता और विविधता में समरसता का परिदृश्य दृष्टिगत होता है, इससे अनेकांत की उपरोक्त व्याख्या की पुष्टि होती है।

तब भी यह कहना मुनासिब नहीं होगा कि अनेकांत-दृष्टि भारतीय जन-मानस में आज व्यापक स्तर पर अपनी गहरी पैठ बनाए हुए है। आज समाज जिन मान्य सिद्धांतों-विचारों से संचालित है, उनमें अनेकांत के लिए कितना स्थान है? अपनी सुविधा या श्रद्धा के लिए इस सिद्धांत का राग-अलाप यदि कहीं होता है तो वह सर्वदा मान्य नहीं कहा जा सकता, अन्यथा सचाई यही है कि अनेकांत या स्याद्वाद आज धर्म-क्षेत्र में ही चर्चा का विषय है।

दार्शनिक-सिद्धांत और आदर्श कितने ही बेहतर रहे हों, व्यवस्था-संचालन में उनकी कोई अहम भूमिका नहीं रही। इसमें तो राजनीतिक विचारधाराओं का ही योग महत्वपूर्ण रहा है। अनेकांत दर्शन और उससे निःसृत समतावाद व समभाव का भी कोई प्रभाव किसी राजनीतिक विचारधारा पर वैसा ही परिलक्षित नहीं होता, भले समाजवाद व साम्यवाद जैसी राजनीतिक विचारधारा के ये आधारबिन्दु ही क्यों न रहे हों।

वर्तमान में तो स्थिति और भी बिगड़ी हुई है। आज तो राज्य व्यवस्था किसी राजनीतिक विचारधारा से संचालित ही नहीं है। आज तो दलों का शासन है जो किसी सुनिश्चित-सुचिंतित विचारधारा से संचालित नहीं हो रहे, ये दल आज व्यक्ति आधारित होते जा रहे हैं। यही कारण है कि शासन-संचालन में आए दिन टकराव, खींच-तान और निरर्थक वितंडावाद सुनने-देखने को मिलता है। ऐसे हालात में अनेकांत दर्शन अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है।

अनेकांत का आशय ही दूसरों के विचारों को समझने का प्रयत्न और समभाव है। अनेकांत का मानना है कि व्यक्तिवाद या एकांगी दृष्टिकोण मनुष्य को स्वार्थी बनाता है। अनेकांत का सूत्र है — एक और अनेक का समन्वय। इस पर व्यापक दृष्टिकोण रखते हुए आचार्यश्री महाप्रज्ञजी कहते हैं — इस विश्व में वही अस्तित्व है जिसका प्रतिपक्ष है। वे कहते हैं— अस्तित्व सप्रतिपक्ष है। कोई अस्तित्व ऐसा नहीं जिसका प्रतिपक्ष न हो। प्रतिपक्ष का सिद्धान्त सार्वभौम नियम है। उनकी यह व्याख्या इसके अनछुए फलक खोलती है। वे बताते हैं— अनेकांत को केवल सिद्धांत और दार्शनिक विचार मानकर, उसको आधार मानकर उदार, व्यापक और सत्यांश को खोजने वाली दृष्टि का विकास करें।

क्या यह संभव है? इस पर विचार करने से पहले यह विचार करना जरूरी है कि क्या इसकी जरूरत है? आज विचारधाराओं पर आधारित शासन या समाज-व्यवस्था नहीं चल रही। आज बाजारवाद ही व्यवस्था का संचालक है। जब व्यवस्था अथवा सत्ता बाजार से संचालित होने लगती है तो मुनाफा ही सिद्धांत हो जाता है और समाज तब उपभोक्ता बन जाता है। उपभोग में अंतहीन लालसाओं की सर्वतोमुखी जकड़ प्रबल होने लगती है। तब नैतिकता तिरोहित होने लगती है। अध्यात्म तब आभूषण की तरह शोभा या प्रतीक-भर हो जाता है। तब नैतिकता या अध्यात्म जीवन शैली नहीं रहते। जब स्थितियां ये हों तो ऐसे दर्शन या सिद्धांत की आवश्यकता और भी प्रबल हो उठती है जो अनाग्रही हो, सत्यान्वेषी हो, प्रतिपक्ष को शत्रु नहीं बल्कि पूरक मानता हो, जो भिन्न नीतियों या सिद्धांतों का खण्डन किए बिना सत्यांश को खोजने की दृष्टि का विकास करने में सहायक हो। अनेकांत दर्शन में ये सभी संभावनाएं परिलक्षित होती हैं।

अनेकांत की तात्त्विक और दार्शनिक मीमांसा जितनी जरूरी है, किसी भी विचार के लिए यह जानना भी उतना ही आवश्यक है कि वे विचार सामान्य जन-जीवन के लिए कितने प्रासंगिक और व्यावहारिक सिद्ध होते हैं। इस दृष्टि से विचार करते हुए हमें यह देखना होगा कि हम किस परिवेश में जी रहे हैं। आज वैश्विक स्तर पर जो परिदृश्य प्रकटतः नजर आ रहा है, वही प्रभाव भारतीय जन-मानस पर भी स्पष्टतः प्रतीत हो रहा है। विश्व-ग्राम या ग्लोबल विलेज की अवधारणा के निहितार्थ मानवीय गुणों के विकास में भले न प्रकट हो पाएं, पर इनकी अवनति से मुक्त रह पाना अवश्य कठिन है। आर्थिक विषमता, सामाजिक-सांस्कृतिक क्षरण जिस गति से बढ़ रहे हैं, उसे देखते हुए यह कहना अब अतिरंजना नहीं कि

आधुनिक विकास के दौर पर कोई ऐसा अंकुश नहीं रहा है जो पटरी से उतर रही मानवीयता को फिर से पटरी पर ला खड़ा करे। संचार क्रांति से असमानता और विषमता की खाई पाटने में तो कोई भूमिका अदा नहीं की, पर यह तो किया ही है कि दुनिया के किसी भी हिस्से में उपज रही विकृति से हम त्वरित रूप से दो-चार हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि यह भौतिक विकास का दौर है और इस दौर में मानवोचित गुणों— करुणा, प्रेम, सौहार्द, परस्परता, सह-जीवन, समता-समानता के लिए कोई जमीन शेष नहीं बची है। इनके बरक्स हृदयहीनता, शोषण, संग्रह, स्व-केन्द्रितता, खुदगर्जी, आपा-धापी, एकाधिकारिता जैसी प्रवृत्तियां बढ़ी हैं। इन्हीं के चलते विश्वव्यापी आतंकवाद और उग्रवाद का अजगर भी पसरता जा रहा है।

यह विषम स्थिति सबको भयातुर और चिंतित करने वाली है, फिर भी इससे उबरने के उपाय करते हुए विश्व-कर्णधार विषमता के कारणों में गहरे नहीं उतरते। मिसाल के तौर पर दुनियावी स्तर पर बेरोजगारी-बेकारी और भुखमरी-निवारण के उपाय करते हुए साधनों के विस्तार की मायावी योजनाएं जब कागजों पर उतरती हैं तो उनमें दक्षता अवश्य दिखाई देती है, पर हकीकतन वे कितनी व्यावहारिक होती हैं— यह उनकी सफलता-असफलता के परिणामों से जान सकते हैं। तब असफलता के कारणों के ऐसे अकाट्य तर्कों का विलाप किया जाता है कि जैसे आयोजनाओं के बनने में तो कोई खामी नहीं, कोताही उनके क्रियान्वयन में ही रही हो। ऐसे निष्कर्ष भी तथाकथित आधुनिक विचारशीलों, मायावी आंकड़ों के भ्रमजाल फैलने वालों के ही होते हैं अन्यथा खामियां तो आयोजनाओं के शुरु में ही रहती हैं और उन पर सवालिया निशान भी उठते ही हैं। दरअसल ये सवालिया निशान नीतिकारों के मध्य वैचारिक संघर्ष या मत-भिन्नता अथवा आयोजनाकारों के अपने आग्रहों और परिस्थितियों की जमीनी सचाई (कारण कुछ भी रहें) से मुकरने के नतीजे ही होते हैं।

जैसा कि कहा गया कि हमें अपने परिवेश पर दृष्टिपात करना जरूरी है, तो यह एक मोटी छवि है हमारे वर्तमान परिवेश की। इससे मुक्त होने की छटपटाहट इसी से जाहिर है कि हर व्यक्ति— अमीर-गरीब, सशक्त-निशक्त, समर्थ-असमर्थ- सभी जन संत्रस्त हैं, मर्माहत हैं। अतः यह समीचीन और सामयिक है कि हम किसी ऐसी दृष्टि की तलाश करें जो इस संत्रास और मर्मातकता पर मरहम पट्टी का काम कर सके। हमारे सामने अनेकांत दृष्टि है। इसके धार्मिक-आध्यात्मिक पहलुओं पर चर्चाएं हुई हैं। दार्शनिक स्तर पर शास्त्रीय और पांडित्यपूर्ण विमर्श भी हुए हैं और होते रहेंगे, पर अपनी परिवेश-जन्य स्थितियों और अभिप्रायों की कसौटी पर इसे ला खड़ा करने की आज निहायत जरूरत है। कहा जाना चाहिए कि यह हालात की ही अनिवार्यता है कि अनेकांत पर इस रूप में विचार हो और हम जान सकें कि यह दर्शन हमें अपने सामाजिक सरोकारों के प्रति सचेत रखने की भी कोई क्षमता रखता है और क्या आज की विषम स्थितियों से निजात पाने की कोई दिशा भी हमें अनेकांत से मिल सकती है? कोई भी दर्शन या विचार इस दृष्टि से यदि समाज से संपृक्त नहीं रहता है तो एक समय में वह काल का ग्रास बन जाता है। भगवान महावीर ने 2500-2600

वर्ष पूर्व जिस सिद्धांत को प्रतिपादित किया — यह अनेकांत अगर आज विश्व-स्तर पर विमर्श का निमित्त बना हुआ है तो हम यह मत तो तत्काल ही स्थापित कर सकते हैं कि अनेकांत काल की अंधी घाटियों में गुम हो जाने वाला सिद्धांत नहीं माना जा सकता। अलबत्ता यह अवश्य माना जाएगा कि भगवान महावीर द्वारा प्रतिपादित यह सिद्धांत जैन धर्म की हृद में कैद करके ही देखा जाता रहा है। इस सिद्धांत के साथ यह अन्याय भी क्या केवल इसीलिए नहीं हुआ कि भगवान महावीर जैन-धर्म के अधिष्ठाताओं में से रहे और चौबीस-वें तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठापित होकर भी कालांतर में केवल जैनियों के कहलाए।

हम अनेकांत के एक बिन्दु की विवेचना पर आएँ। इसकी शास्त्रीय व पांडित्यपूर्ण मीमांसा से बचते हुए और धार्मिक-आध्यात्मिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए इसके सामान्य पहलुओं पर सोचें तो हम पाते हैं — अनेकांत अनाग्रह का सिद्धांत है और हर विचार, दर्शन या सिद्धांत पर बिना किसी पूर्वाग्रह के सम्मानपूर्वक विमर्श की स्वतंत्रता देता है। अनेकांत कहता है, जो बात जिस दृष्टिकोण से कही गई है, उसी दृष्टिकोण से उसे समझने का प्रयत्न किया जाए, विरोधी बात भी किसी न किसी रूप में सही हो सकती है— यह दृष्टिकोण अनेकांत का है। ऐसा होने से ही हठधर्मिता और पक्षपात की संभावना समाप्त होती है। उदार और समन्वयवादी दृष्टिकोण से कोई भी विवाद हल हो सकता है। आज आग्रहों-दुराग्रहों में रच-पच जा रहे समाज के लिए अनेकांत की यह दृष्टि समन्वय, सहिष्णुता और परस्परता का पाठ पढ़ाती प्रतीत हो रही है। हमारा यह परिवेश - आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आग्रहों से भरा हुआ है, जिसने हमें खांचों-खांचों में विभाजित कर दिया है। न केवल विभाजित ही किया है, कहीं से आ रही श्रेयस् बात भी इसी वजह से अनसुनी और अविचारित रह जाती है। देखा जाए तो अनेकांत का हस्त भी इसी संकीर्णता का परिणाम है, क्योंकि अनेकांत एक धर्म-विशेष और एक धर्म-विशेष के अधिष्ठाता की फलश्रुति है। दुर्भाग्य से धर्म के साथ भी तो उसके दुराग्रहण, कठमुल्लापन और कट्टरपन के भय (बहुत अंशों तक सच) जुड़े हैं। भले कोई धर्म ऐसा न हो, भले कोई सिद्धांत या दर्शन ऐसे न हों— जैसे कि जैन धर्म और अनेकांत के सिद्धान्त के बारे में दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि ये कठमुल्लापन और कट्टरपन से सर्वथा मुक्त हैं।

इस दृष्टि से जैन-धर्म धर्म के वर्तमान रूढ़ अर्थ से मुक्त है। यह एक ऐसा मत है, एक ऐसी विचारधारा है, जो कट्टरपन से सदा दूर रहते हुए सत्यान्वेषण की खुली दृष्टि से संपन्न है। वैचारिक आग्रहों की जंजीरें तोड़ने में अनेकांतवाद का सिद्धांत सर्वाधिक कारगर साबित हो सकता है। अनेकांतवाद वैचारिक स्तर पर खण्डन-मण्डन से मुक्त रहते हुए हर विचारधारा को समादर दृष्टि से देखने की स्वतंत्रता देता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि अनेकांत को मानने वालों का न संप्रदाय के प्रति आग्रह हो सकता है और न जाति, समाज या भाषा-भेष के प्रति। इस रूप में जैन मतावलंबी जातिवाद से मुक्त हैं। आज भी इस मत के लोगों में जातीय कट्टरता नगण्य है। जातीय स्तर पर होने वाले विवादों की घटनाएं बताती हैं कि जैन-जन उनसे सर्वदा पृथक् रहे हैं।

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

जैन-धर्म और अनेकांत को इनसे मुक्त बताते हुए हमें इनके आधार तत्त्व और प्रमाणों की पड़ताल भी कर लेनी चाहिए। जैन-धर्म का धरातल भारत-भूमि है, बैशक भारत से बाहर भी यह फैला है और पहलवान होता जा रहा है। जहां कहीं हम जैनों या अनेकांतवादियों को देखें, पाएंगे कि तुलनात्मक रूप से वे अधिक सहिष्णु हैं, कम अनाग्रही हैं। दुराग्रह तो उनके निकट भी नहीं हैं। शोषण, विषमता, घृणा, वैमनस्य, अकरुणा भी जैनों में कम पाई जाएगी। इन विकृतियों को लेकर जहां कहीं भी अमानवीय कुछ घटा है तो उसमें जैनों की, अनेकांतवादियों की भागीदारी नगण्य ही मिलेगी।

हम यह भी कहना चाहेंगे कि जैन और अनेकांत ही क्यों, कई अन्य भी हैं जो इनसे मुक्त माने जा सकते हैं। वस्तुतः आग्रही होने से ही कलह, अधीरता, कलुषता और ईर्ष्या-वैमनस्य का प्रवेश होता है। यहीं हिंसा और असत्य की संभावना पैदा होती है और अंततः समन्वय, उदारता और परस्परता का श्रेष्ठ मार्ग विखंडित होता है। तभी यथार्थ से च्युत होकर अयथार्थ की ओर आमुख होने की श्रृंखला बल पकड़ती है और तादात्म्यता नष्ट होने लगती है।

भारतीय संदर्भ में यदि हम अनेकांत पर दृष्टिपात करें तो कहना होगा कि अनेकांत ही यहां की भाव-भूमि है, अनेकांत ही यहां की रस-सलिला और आलोक-रश्मियां हैं, क्योंकि विश्व में भारत ही एक ऐसा देश है जहां विविध वर्ग, विविध धर्म, भाषा, वेष, जाति-समुदाय, रहन-सहन और खान-पान सब-कुछ विविध हैं। इतनी विराट् विविधता अनेकांत के बल पर टिकी हुई है — यह निर्विवाद स्वीकारोक्ति होनी चाहिए। फिर भी अनेकांत के सामाजिक अभिप्रायों पर गवेषणा की नितांत आवश्यकता है और शास्त्रज्ञों का यह दायित्व है कि इसके सामाजिक अभिप्रायों का खुलासा करें।

भगवान महावीर के इस छब्बीस सौवें जन्म शताब्दी वर्ष पर देश भर में न जाने कितने और कैसे-कैसे आयोजन होंगे, लेकिन देश की मनीषा के लिए यह भी विमर्शनीय होना चाहिए कि अनेकांत के एक-एक फलक को जन-सामान्य के लिए बोधगम्य बनाने की दिशा में भी कुछ अभिक्रम किए जाएं।

संदर्भ :

1. श्रमण महावीर, ले. आचार्यश्री महाप्रज्ञ
2. श्रमण महावीर, ले. आचार्यश्री महाप्रज्ञ।
3. आचार्य चूला, 15/34- श्रमण महावीर, ले. आचार्यश्री महाप्रज्ञ।

पत्रकार

भीनासर-334 403

बीकानेर (राजस्थान)

वैचारिक सहिष्णुता का सिद्धान्त : अनेकान्त

—डॉ. सुदीप जैन

मनुष्य के मस्तिष्क में विचारों की उत्पत्ति समनस्कता के कारण होती ही रहती है। किन्तु दिशाहीन एवं लोकहित से रहित विचारों को वस्तुतः बौद्धिक-व्यापार का चिह्न नहीं माना गया है। खाली दिमाग शैतान का घर जैसी लोकोक्तियाँ ऐसे चिन्तनों को चरितार्थ करती हैं। परन्तु जो चिन्तन सुव्यवस्थित, तार्किक एवं दिशाबोधक होते हुए भी पूर्वाग्रह अथवा अहंमन्यता के कारण पर-विचार-सहिष्णु हो जाते हैं, उन्हें ऐकान्तिक चिन्तन कहा जाता है। इसी कारण दार्शनिक जगत् में दो प्रकार के वैचारिक वर्गीकरण मिलते हैं—

1. एकान्तवादी दार्शनिक विचारधारा
2. अनेकान्तवादी दार्शनिक विचारधारा।

भारतीय आर्य-संस्कृति की दो मूल धारायें हैं—1. श्रमण-परम्परा और 2. वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा। इनमें श्रमण-परम्परा अनेकान्तवादी चिन्तन की पक्षधर रही है और वैदिक-परम्परा एकान्तवादी विचारों की पोषक रही है, क्योंकि वेदों को एकान्तवादी दर्शन के रूप में माना गया है—एकान्तदर्शना वेदाः¹—

इसी वैचारिक अन्तर के कारण इन दोनों धाराओं में व्यापक मतभेद भी रहे, और इसी कारण श्रमण-ब्राह्मणम् येषां च विरोधः शाश्वतिकः इत्यवकाशः²— जैसे वाक्य भी प्रचलन में आ गये।

वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप अनेकान्तात्मक ही है। यह अनेकान्तात्मकता स्वयं वस्तु को ही इष्ट है, उसमें ही निहित है; तो उस पर आक्षेप या आपत्ति खड़ी करने का किसी भी व्यक्ति को क्या आधार है? आचार्य समन्तभद्र इसी बात को इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं—“यदीदं स्वयं समर्थभ्यो रोचते तत्र के वयम्।” तथा किसी भी पसन्द या नापसन्द के आधार पर वस्तु का स्वभाव तो बदलने से

रहा, अतः हमें अपनी दृष्टि बदलनी होगी तथा वस्तु की अनन्तधर्मात्मकता या अनेकान्तात्मकता को वांछित स्वीकृति देनी होगी। तब हमारे पास 'स्याद्वाद की कथनशैली अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं बचेगा।' यहाँ तक कि जिन दर्शनों एवं दार्शनिकों ने 'स्याद्वाद' की कथन-पद्धति एवं 'अनेकान्तात्मक' वस्तुस्वरूप की स्वीकृति नहीं भी की है; उन्हें भी प्रकारान्तर से इन दोनों को मानना पड़ा है। कतिपय निदर्शन द्रष्टव्य हैं—

'नासतो विद्यते भावो, नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥'³

भाष्य— "एवमात्मनात्मनोः सदसतोः उभयोरपि दृष्ट उपलब्धोऽन्तः निर्णयः सत् सदेवासदेवेति त्वनयो यथोक्तयोः तत्त्वदर्शिभिः ॥"

अर्थ— इस प्रकार 'सत्' आत्मा और 'असत्' अनात्मा— इन दोनों का ही यह निर्णय तत्त्वदर्शियों द्वारा देखा गया है अर्थात् प्रत्यक्ष किया जा चुका है कि 'सत्' सत् ही है और 'असत्' असत् ही है।

लगभग इसी तथ्य को परमपूज्य आचार्य कुन्दकुन्द इन शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं:—

"भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चैव उप्पादो।

एवं सदो विणासो, असदो जीवस्स णत्थि उत्पादो ॥"

अर्थ— 'सत्' रूप पदार्थ का नाश नहीं हो सकता है तथा 'असत्' का उत्पाद नहीं हो सकता है। पदार्थ अपने गुण-पर्यायों व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप रहते हैं।

एक अन्य निदर्शन देखें—'नैकस्मिन्नसम्भवात्'⁴

शांकरभाष्य— "न चैषां पदार्थानामवक्तव्यत्वं सम्भवति। अवक्तव्याश्चेन्नोचयेरन्। उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिसिद्धम्।"

अर्थ— ये पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य हैं — ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यदि वे सर्वथा अवक्तव्य हों, तो उच्चरित नहीं हो सकते। यदि उच्चारण में भी आते हैं और अवक्तव्य भी हैं— ऐसा तो विप्रतिसिद्ध (तुल्यबल विरोध) है।

उपनिषद्कार इस विषय में लिखते हैं— "व्यक्ताव्यक्तम्,"⁵ अर्थात् वस्तु 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' — दोनों रूप हैं। जैसे कि मेंहदी में हरा रंग व्यक्त है तथा लाल रंग अव्यक्त है। इसीलिए शंकराचार्य ने लिखा है कि — "महाद्भुताऽनिर्वचनीयरूपा।"⁶

अर्थ— तत्त्व महान्, अद्भुत और अनिर्वचनीय है।

वस्तुतत्त्व के इस विशिष्टरूप को वस्तुस्वभाव के अनुसार ही समझा जा सकता है, 'तर्क' के व्यायाम द्वारा नहीं। आचार्य समंतभद्र लिखते हैं— "स्वभावोऽतर्कगोचरः।"⁷

जहाँ वेदान्तदर्शन सम्पूर्ण जगत् को अद्वैतब्रह्ममय कहता है; वहीं सांख्य, वैशेषिक

आदि अन्य वैदिक-दर्शन-जगत् को भेदाभेद एवं एकानेकरूप प्रतिपादित करते हैं। यदि ब्रह्म-अद्वैत है, तो जीव की सत्ता है या नहीं? — इसका उत्तर देते हुए गीताकार लिखते हैं—
 “ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः”⁸ अर्थात् इस जीवलोके में समस्त जीवराशि मुझ ब्रह्म या ईश्वर का ही सनातन अंश है। इसी बात को संत तुलसीदास (रामचरितमानस, बालकाण्ड) लिखते हैं—“ईश्वर-अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशी।”

यह अंश-अशी का स्वतंत्र सनातन अस्तित्व ‘द्वैतवाद’ का पोषक है।

‘वेद’ भी इस तथ्य का समर्थन करते हैं—‘एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति’⁹ अर्थात् उस एक सत् को ही विद्वज्जन अनेक प्रकार से कहते हैं।

जैनों की ‘स्याद्वाद’ शैली के द्वारा वस्तु के अनेकान्तात्मक की स्वीकृति की पुष्टि शंकराचार्य ने भी की है—

‘अपरे वेदबाह्या दिगम्बरा एकस्मिन्नेव पदार्थे भावाभावौ मन्यन्ते’¹⁰ अर्थात् अन्य जो वेदबाह्य दिगम्बर लोग हैं, वे एक ही पदार्थ में भाव (अस्ति) और अभाव (नास्ति) धर्मों को युगपत् मानते हैं।

ऐसा नहीं है कि अनेकांत की अवधारणा जैनेतरों में नितांत अस्वीकृत रही है। वैदिक वाङ्मय ने भी अनेकांत के तत्त्व मिलते हैं, भले ही उन्होंने अनेकांत के सिद्धान्त को स्वीकार न किया हो—

असति सत् प्रतिष्ठितं, सति भूतं प्रतिष्ठितम्¹¹ अर्थात् ‘असत्’ में ही ‘सत्’ प्रतिष्ठित है, ‘सत्’ में भी ‘असत्’ प्रतिष्ठित है।

‘अनेकान्तवाद’ यह एक सिद्धान्त ही नहीं अपितु एक विशिष्ट चिन्तशैली का भी परिचायक है, जो पर-विचार-सहिष्णुता का मंत्र प्रदान करता है। एकान्तवादी चिन्तन को प्रकारान्तर से ‘वैचारिक हिंसा’ भी विद्वानों ने माना है। ‘अनेकान्तवाद’ के इस पक्ष पर प्रख्यात मनीषी डॉ. मंगलदेव शास्त्री के विचार मननीय हैं—

‘अनेकांतवाद’ का मौलिक अभिप्राय यही हो सकता है कि तत्त्व के विषय में आप्रह न होते हुए भी उसके विषय में तत्तदवस्था भेद के कारण दृष्टिभेद संभव है। इस सिद्धान्त की मौलिकता में किसको सन्देह हो सकता है? क्या हम

‘श्रुतयो विभिन्नाः स्मृतयो विभिन्ना नैको मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।’—(महाभारत)

‘यस्यामतं तस्य मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥’¹² इत्यादि वचनों को मूल में अनेकान्तवाद का ही प्रतिपादक नहीं कह सकते? दर्शन शब्द ही स्वतः दृष्टिभेद के अर्थ को प्रकट करता है। इस अभिप्राय से जैनाचार्यों ने अनेकान्तवाद के द्वारा दार्शनिक आधार पर विभिन्न दर्शनों में विरोध भावना को हटाकर परस्पर स्थापित करने का एक सत्प्रयत्न किया है।

अनेक अवस्थाओं से बद्ध, विभिन्न दृष्टिकोणों से पदार्थों को देखने का अभ्यासी, मनुष्य किसी पदार्थ के अखण्ड सकल-स्वरूप को कैसे जान सकता है? उन अखण्ड मूल स्वरूप को हम सच्चे अर्थ में "गुहाहितं गह्वरेष्टं पुराणम्" कह सकते हैं। "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (यजुर्वेद, पुरुषसूक्त) इस वैदिकश्रुति का भी वास्तविक तात्पर्य यही है। इसमें सन्देह नहीं कि जैनदर्शन में प्रतिपादित अनेकान्तवाद के इस मौलिक अभिप्राय को समझने से दार्शनिक जगत् में परस्पर विरोध तथा कलह की भावनाओं के नाश से परस्पर सौमनस्य और शान्ति का साम्राज्य स्थापित हो सकता है।

जैनधर्म की भारतीय संस्कृति को बड़ी भारी देन अहिंसावाद है जो कि वास्तव में दार्शनिक-भिति पर स्थापित अनेकान्तवाद का ही नैतिकशास्त्र की दृष्टि से अनुवाद कहा जा सकता है। धार्मिक दृष्टि से यदि अहिंसावाद को ही जैनधर्म में सर्वप्रथम स्थान देना आवश्यक हो, तो हम अनेकान्तवाद को ही उसका दार्शनिक दृष्टि से अनुवाद कह सकते हैं। 'अहिंसा' शब्द का अर्थ भी मानवीय सभ्यता के उत्कर्षानुत्कर्ष की दृष्टि से भिन्न-भिन्न किया जा सकता है। एक साधारण मनुष्य के स्थूल विचारों की दृष्टि से हिंसा किसी की जान लेने में ही हो सकती है। किसी के भावों को आघात पहुँचाने को वह हिंसा नहीं कहेगा, परन्तु एक सभ्य मनुष्य तो विरुद्ध विचारों की असहिष्णुता को भी हिंसा ही कहेगा। उनका सिद्धान्त तो यही होता है कि —

“अभ्यावहति कल्याणं विविधं वाक् सुभाषिता।

सैव दुर्भाषिता राजन् अनर्थायोपपद्यते॥

वाक्सायका वदनान्निष्पतन्ति यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।

परस्य नामर्मसु ते पतन्ति तान् पण्डितो नावसृजेत् परेभ्यः॥”¹³

सभ्य जगत् का आदर्श विचार स्वातन्त्र्य है। इस आदर्श की रक्षा अहिंसावाद (हिंसा-असहिष्णुता) के द्वारा ही हो सकती है। विचारों की संकीर्णता या असहिष्णुता ईर्ष्या-द्वेष की जननी है। इस असहिष्णुता को हम किसी अन्धकार से कम नहीं समझते। आज हमारे देश में जो अशान्ति है, उसका एक मुख्य कारण यही विचारों की संकीर्णता है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य में पाया जाने वाला 'आनृशंस्य' शब्द भी इसी अहिंसावाद का द्योतक है। इस प्रकार के अहिंसावाद की आवश्यकता सारे संसार को है। जैनधर्म के द्वारा इसमें बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। उपर्युक्त दृष्टि से जैनदर्शन भारतीय दर्शनों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

'अनेकांतवाद' शब्द का प्रयोग वैदिक परम्परा¹⁴ में भी हुआ है। जैनदर्शन में तो अनेकांत को प्राणतत्त्व ही माना गया है—

आचार्य सिद्धसेन ने अनेकांत को इस लोक का अद्वितीय गुरु संबन्धतः इसी चिन्तन के कारण प्रतिपादित किया है कि इसके बिना वस्तुस्वरूप का ज्ञान एवं प्रतिपादन दोनों ही संभव नहीं है।

**जेण विणा लोगस्स वि व्यवहारो सव्वहा ण णिव्वहइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायरस्स ॥¹⁶**

अर्थ— जिसके बिना लोक का भी व्यवहार सर्वथा नहीं सहा जा सकता है, ऐसे उस विश्व के एक अद्वितीय गुरु अनेकांतवाद के लिये नमस्कार है ।

जैनाचार्यों ने अनेकांत को पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य 'पारमेश्वरी विद्या'¹⁶ एवं विरोध का नाशक विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्¹⁷ कहा है ।

आचार्य सिद्धसेन तो इसे 'मिथ्यादर्शन के समूह का विघातक' भी कहते हैं¹⁸

भदं मिच्छादंसण-समूहमहयरस्स अमयसारस्स ।

जिणवयणस्स भगवओ संविग्ग सुहाहिगम्मस्स ॥

अर्थ— एकांत मिथ्यादर्शनों के समूह का मथक अमृतसाररूप तथा तत्त्वज्ञ आचार्य मुनिजनों द्वारा सुखपूर्वक जाने गये ऐसे महत्त्वशाली तीर्थंकर सन्मति भगवान् के वचन से सुमुमुक्षु जगत् का कल्याण हो ।

इस अनेकांतवाद का वाचिक परिचायक 'स्यात्' शब्द माना जाता है¹⁹

'तस्यानेकान्तवादस्य लिंगं स्याच्छब्द उच्यते ।

तदुक्तार्थेऽविनाभावे, लोकयात्रा न सिद्ध्यति ॥' अर्थात् उस अनेकांतवाद का लिंग (प्रधानचिह्न) 'स्यात्' शब्द है, जिसके कहे बिना लोक-व्यवहार भी नहीं चल सकता है अर्थात् सिद्ध नहीं हो सकता है ।

संकीर्ण विचारधारा से लोक में काम कभी नहीं चला है । चिन्तन की उदारता (विशालता या व्यापकता) इसमें प्रतिपल अपेक्षित है अन्यथा 'शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व' जैसी आधुनिक सुन्दर विचारणायें कभी भी मूर्तरूप नहीं ले सकेंगीं । किसी भी संगठन या समवाय में अनेकविध व्यक्ति चाहिए अन्यथा उसका कार्य सुचारुरूप से नहीं चल सकेगा । यहाँ तक कि उसके विरोधी भी चाहिये । यदि वे नहीं हों, तो सावधानवृत्ति एवं विचारशुद्धि निश्चित रूप से बाधित होगी । विरोध करने वालों को नीतिविदों ने 'उपकारक' कहा है; क्योंकि यदि वे न हों, तो अनुयायी अहंकार की वृद्धि कर विचारों को कलुषित बना देते हैं । जैसे राख से मंजे बर्तन चमक उठते हैं; उसी प्रकार विरोधी विचारधारा भी वैचारिक सहिष्णुता एवं परिष्कार के लिए अनिवार्य है । कहा भी है—

“निंदक नियरे राखिये आंगन कुटी छ्वाय ।

जे साबू-पानी बिना, निर्मल करें सुभाय ॥”

इसीलिये विवेकीजन 'विनोद' समझते हैं और उससे वे अपने चिन्तन एवं प्ररूपण में निरन्तर विकास, परिशोधन एवं अनुसंधान करते रहते हैं । अतः अनेकान्तात्मक चिन्तन मनुष्य के विचारों को व्यापक एवं सहिष्णु बनाता है ।

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

75

‘अनेकांत’ वस्तु का स्वरूप है— यह स्वीकृति मनुष्य को ‘अनेकान्तवाद’ के अन्वेषण के अहंकार से भी दूर रखती है तथा पारस्परिक सौहार्द को तो बढ़ाती ही है। अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र के इन वचनों को उद्धृत करना चाहता हूँ—

‘उभयनय-विरोध्वंसिनि स्यात्पदांके,
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।’²⁰

अर्थात् दोनों नयों के विरोध को दूर करने वाले इन जिनेन्द्र वचनों में जो रमते हैं, वे मोहरहित हो जाते हैं।

संदर्भ :

1. महाभारत, मोक्षधर्म, शांतिपर्व, 2/306/46
2. पातंजल महाभाष्य, 1/4/911
3. गीता, 2/96, योगवाशिष्ठ, 3/7/38
4. आ. बादरायण, ‘ब्रह्मसूत्र’, 2/2/23
5. श्वेताश्वरोपनिषद्, 1/8
6. विवेकचूड़ामणि, 111
7. आप्तमीमांसा, 100
8. गीता, 15/7
9. ऋग्वेद 16
10. ब्रह्मसूत्र, विज्ञानामृतभाष्य, 2/2/33
11. अथर्ववेद, 17/1/19
12. केनोपनिषद् 2/3
13. विदुरनीति, 2/77. 80
14. विष्णुपुराण, 18/10-11
15. आचार्य सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र, 3/69
16. प्रवचनसार, पृष्ठ 2
17. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 1/2 कहा है।
18. आचार्य सिद्धसेन, सन्मतिसूत्र, 3/60
19. आचार्य जटासिंहनंदि, वरांगचरित, 26/83
20. समयसारकलश, 1/4

विभागाध्यक्ष

प्राकृतभाषा विभाग

श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय), नई दिल्ली-110 016

वर्तमान समस्याओं के समाधान में अनेकान्त की उपयोगिता

— डॉ. हेमलता बोलिया

**परमागमस्य बीजं निषिद्धं जात्यन्धसिन्धुरविधानम् ।
सकलनय विलसितानां विरोध-मथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥**

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जन्मान्ध पुरुषों के हस्त विधान का निषेधक समस्त नयों से विलसित वस्तु स्वभाव के विरोध का शामक, उत्तम जैन शासन का बीज अनेकान्त सिद्धान्त को मैं नमस्कार करता हूँ।

विश्व का प्रत्येक प्राणी आज समस्याओं से आक्रान्त है। भले ही विज्ञान के नित-नये आविष्कारों ने उसके जीवन को समुन्नत और समृद्ध किया है। यह सब विकास एकांगी और एकपक्षीय है। जहाँ भौतिक समृद्धि ने उसके जीवन को सुविधाभोगी और विलासी बनाया तो वहीं दूसरी ओर वह आध्यात्मिकता से दूर होता चला गया और परिणामस्वरूप मानसिक तनाव और जीवन में असन्तुलन आदि समस्याओं से घिरता चला गया। विज्ञान अपनी शोध से जैसे-जैसे समस्याओं के समाधान खोजने का प्रयास करता रहा वैसे-वैसे समस्याएँ सुरसा के मुख की तरह बढ़ती गयी। जीवन का कोई भी क्षेत्र इससे अछूता नहीं रहा है, चाहे वह पारिवारिक क्षेत्र हो, धर्म और दर्शन का क्षेत्र हो, राजनीति और पर्यावरण का क्षेत्र हो अथवा आर्थिक क्षेत्र हो। सर्वत्र व्यक्ति अपने मत को मनवाने का आग्रह करता है और इसी कारण विद्रूपता का सर्वत्र साम्राज्य दिखाई देता है। परिवार संयुक्त से एकाकी और एकाकी से एकल बनता जा रहा है। पारस्परिक झगड़ों से संतस्त बालक असामाजिक तत्त्वों के हाथ में पड़कर नशा-खोरी और व्यसनों से ग्रस्त हो रहे हैं। दूसरी ओर धर्म दर्शन के क्षेत्र में अपनी मांग मनवाने के लिये अन्य मत को

समाप्त करने व दबाने के लिये सभी तरह के उचित-अनुचित रास्ते अपनाये जाते हैं। अर्थ की लोलुपता ने नैतिकता और सहृदयता की सीमायें लांघ दी और कामुकता ने व्यक्ति स्वातंत्र्य का गला घोट दिया। अपनी सुविधा और विलासिता के लिये प्रकृति को दूषित कर, उसका सन्तुलन बिगाड़ कर उसे मानव जाति के अयोग्य सिद्ध कर दिया। राजनैतिक क्षेत्र में एक वर्ग, जाति, प्रान्त और भाषा को एक-दूसरे से लड़वाकर कुर्सी स्थायी करने की प्रवृत्ति बढ़ गई। इस प्रवृत्ति ने सामाजिक सामंजस्य को वैमनस्य में बदल दिया। समस्त बुद्धि कौशल के होते हुए भी आज मानवता संतुलित है। विकास क्षमताओं के रहते भी संसार का वर्चस्व हो रहा है। यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगा कि आज विज्ञान मानवीय मूल्यों के अभाव में शिव का भस्मासुरी वरदान सिद्ध हो रहा है। फलतः सभ्यता और संस्कृति का अस्तित्व खतरे में है। वर्तमान के प्रबल लोभ से मानो भविष्य नष्ट हो रहा है। व्यक्ति का व्यक्तित्व असन्तुलन, बिखराव और विकार से ग्रस्त हो रहा है। मानव-जीवन के प्रति निष्ठा और प्रतिष्ठा क्षीण हो रही है। अधिक क्या कहें? समस्याएं अन्नत हैं। सभी का नामोल्लेख करना संभव नहीं है। केवल दृष्टान्त रूप में कुछ समस्याओं का यहाँ नामोल्लेख मात्र किया है। समाधान में जो प्रयत्न किए जा रहे हैं वे भी अपूर्ण हैं। विज्ञान भी उसमें असफल रहा है। ऐसे में हमारा ध्यान दार्शनिकों की ओर जाता है परन्तु जैन दर्शन को छोड़कर सभी दार्शनिक मत प्रायः ऐकान्तिक हैं। अपने-अपने मत को सत्य सिद्ध करने के आग्रह के कारण वे समस्या के समाधान के स्थान पर संघर्ष को उत्पन्न करते हैं। तब जैन दर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त की ओर हमारा ध्यान अनायास ही चला जाता है जो इन समस्याओं के समाधान का राजमार्ग प्रस्तुत करने में सक्षम है।

आचार्य तुलसी के शब्दों में “समस्या हो और समाधान न हो, इस बात में मेरी आस्था नहीं है। समस्या किसी भी क्षेत्र की हो उसका समाधान अवश्य है, उसे खोजने वाला चाहिये।”¹ जीवन की हर समस्या को उत्साह और सन्तुलन से सुलझाना सीखो। समस्या का समाधान करने के लिये आकाश से कोई देवता नहीं आएगा, पृथ्वी पर ही किसी को भगवान बनना होगा।²

भगवान महावीर ने विचारों के समन्वय एवं सामञ्जस्य के लिये अनेकान्त की व्यापक चिन्तन धारा दी जिसका वचन प्रकार स्याद्वाद कहा जाता है। अस्ति-नास्ति एवं अवक्तव्य के आधार पर उन्होंने सत्य को परखने एवं व्याख्या करने के लिये सात भंगों की कल्पना की, जो सप्तभंगी नय कहा जाता है। इस धारा ने उस काल में साम्प्रदायिक संकीर्णता के स्थान पर उदार विचार, सर्वग्राही दृष्टिकोण और समन्वय की प्रतिष्ठा की। आज की परिस्थिति भी उस काल से कुछ कम नहीं है। अतः उसका महत्व और अधिक बढ़ जाता है। अनेकान्त के ज्ञान मात्र से समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता है। समाधान तो उसके व्यावहारिक प्रयोग पर ही निर्भर है। इसलिये व्यक्ति को चाहिये कि वह अनेकान्त के स्वरूप को अच्छी तरह समझकर उसे अपने जीवन का अंग बनाये।

अनेकान्त का अर्थ है—‘अनेकः अन्तः धर्माः यस्य सः अनेकान्तः’ अर्थात् जो वस्तु में विद्यमान अनन्त धर्मों को युगपद् स्वीकार करे, वह अनेकान्त है। अनेक का अर्थ है एक से अधिक और अन्त का अर्थ सहित या धर्म है।

मल्लिषेणसूरि ने स्याद्वादमंजरी³ में इसकी परिभाषा करते हुए कहा है—

अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वमतोऽन्यथा सत्त्वमसूपपादम् अर्थात्- तत्त्व अनेक धर्मात्मक होता है, पदार्थों में अनेक धर्म माने बिना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती है।

परन्तु उलझन यहां होती है कि पदार्थ अनन्त रहे और उन्हें जानने के लिए दृष्टियां भी अनन्त हैं। पर अभिव्यक्ति का साधन तो एक भाषा ही है। वह भी इतनी लचीली और दुर्बल कि उसके द्वारा हम एक क्षण में वस्तु के एक धर्म का ही प्रतिपादन कर सकते हैं। इसका अर्थ होता है— एक वस्तु का प्रतिपादन करने के लिए अनन्त शब्द चाहिए और वैसे अनन्त-अनन्त पदार्थों के लिए अनन्त-अनन्त शब्द चाहिये। उसके लिए हमारा जीवन भी अनन्त चाहिए पर यह कदापि संभव नहीं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भाषा के सहारे हम न तो वस्तु का सम्पूर्ण परिज्ञान ही कर सकते हैं और न ही अभिव्यक्ति। लेकिन तीर्थकरों ने भाषा के भण्डार को एक रत्न प्रदान किया, जिसके प्रभामण्डल में समूचा भाषा-भण्डार जगमगा उठा। वह शब्द रत्न है—‘स्यात्’। यह शब्द इतना सक्षम है कि जिस वस्तु के साथ इसे जोड़ दिया जाए वह वस्तु समग्र अभिव्यक्त होने लगती है। यह एक ऐसा दर्पण है जिसमें वस्तु के सभी रूप एक साथ प्रतिबिम्बित हो सकते हैं।⁴

जैनाचार्यों ने अनेकान्त पर गहन चिन्तन-मनन कर उसे परिभाषित किया है जो उसके सार्वकालिक महत्त्व का परिचायक है।⁵

आचार्य तुलसी ने भिक्षुन्यायकर्णिका⁶ में अनेकान्त की सरल एवं सुगम परिभाषा करते हुए कहा है—

“अर्पणानर्पणाभ्यामनेकान्तात्मकार्थप्रतिपादनपद्धतिः स्याद्वाद” अर्थात् अर्पणा (मुख्य धर्म की अपेक्षा) और अनर्पणा (गौण धर्म की उपेक्षा) के द्वारा अनेकान्तात्मक (अनन्त धर्मात्मक) वस्तु के प्रतिपादन की पद्धति को स्याद्वाद कहा जाता है।

विरोधी और अविरोधी अनेक धर्मों के स्वीकार को अनेकान्त कहा जाता है। एक समय में एक ही धर्म अर्पणा और शेष धर्मों की अनर्पणा के द्वारा अनेकान्तात्मक वस्तु का प्रतिपादन करने वाला वचन ‘स्यात्’ शब्द से युक्त होने के कारण स्याद्वाद कहलाता है। स्याद्वाद एक वस्तु में अनेक विरोधी धर्मों का प्रतिपादन नहीं है किन्तु अपेक्षा भेद से विरोध का परिहारक है।

आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्ति अनेकान्त को समझकर हृदयंगम करें व उसका जीवन में व्यावहारिक प्रयोग करें तो जीवन की समस्याओं के समाधान स्वतः निःसृत

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001 79

होते चले जाएंगे। समस्या का मूल कारण व्यक्ति का आग्रही होना है। यदि व्यक्ति आग्रह को छोड़कर उदारता से सामने वाले की बात को सुने, समझे तो समस्या ही नहीं रहेगी। जितनी भी समस्याएं देखने को मिलती हैं उन सबके मूल में आग्रह ही है।

वर्तमान आचार्य महाप्रज्ञ के शब्दों में “आग्रही मनुष्य आंख पर आग्रह का उपनेत्र चढ़ाकर सत्य को देखता है और अनाग्रही मनुष्य अनन्त चक्षु होकर सत्य को देखता है।”⁷ यदि व्यक्ति में यह अनेकान्त दृष्टि आ जाए तो उसके जीवन में समस्या को कोई स्थान नहीं रहता तथा पारिवारिक दृष्टि से अहम का विगलन और प्रेम के उदय से सब वस्तुएं सीधी नजर आने लगती हैं।

परिवार में प्रत्येक सदस्य अपने हितों और भावनाओं को गौण कर दूसरे के हितों और भावनाओं को प्राथमिकता दें तो स्वयं का हित विघटित नहीं होता है अपितु वह अधिक सधता है और पारिवारिक जीवन सुखमय होता है।

यही दृष्टिकोण दूसरे के घर से आने वाली और अपने घर की बहु के प्रति उसके दृष्टिकोण को महत्व देकर उसकी कठिनाई को समझकर सामञ्जस्य बिटाने की प्रवृत्ति बन जाये तो हमारा अर्थ के प्रति मोह घटेगा, उसके प्रति और उसके पितृपक्ष के प्रति सहज स्नेह आदर विकसित होगा तो फिर हम इतने नृशंस और क्रूर नहीं हो पायेंगे। जैसा कि समाचार पत्रों में दिखाई देने वाली विद्रूपता के लिये कोई स्थान भी नहीं होगा। बहू भी यदि अपनी सुख सुविधाओं को गौण मानकर परिवार के बड़े बूढ़े व्यक्तियों को सम्मान देते हुए व्यवहार करें तो घर में सुखमय वातावरण बनेगा तथा गृहकलह का वातावरण नहीं होगा तो शांति रहेगी।

इसी तरह व्यक्ति अपनी वासनाओं को अधिक महत्व देने के स्थान पर सामने वाले व्यक्ति की इच्छा-अनिच्छा को महत्त्व दें तो उसकी इच्छा दमित हो जायेगी और बलात्कार के भीषण दृश्य दिखाई देंगे। दूसरे के दृष्टिकोण को सत्कार देते हुये यदि सामने वाले की मजबूरी को महत्त्व देकर अपनी इच्छा को गौण करें तो स्त्री पुरुष की समानता का दृष्टिकोण भी विकसित होगा। वासना और क्रोध पर नियन्त्रण होने से बढ़ते रोगों और परस्पर बढ़ते हिंसक वातावरण पर रोक लगेगी।

राजनीतिक दृष्टि से अपने दल या अपनी विचारधारा को महत्त्व देते हुए भी विरोधी राजनैतिक विचारधारा में भी सत्य हो सकता है। यदि यह विश्वास उत्पन्न हो जाता है तो फिर विरोधियों को विरोध से काटने की प्रवृत्ति समाप्त होगी। हम अपनी बात तो दृढ़ता पूर्वक रखेंगे ही किन्तु दूसरे की विचारधारा को घृणा की दृष्टि से नहीं देखेंगे तो पारस्परिक राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वता में घृणा की भावना कम होगी। व्यक्ति यह भी सोच सकता है कि अमुक दल ने अपनी विचारधारानुसार शासन कर लिया, दूसरा दल यदि आता है, संभव है उसकी विचारधारा में भी कोई अच्छी बात हो तो मन की दूरी कम होगी और राजनैतिक अपराधों में कमी आयेगी।

धार्मिक दृष्टि से भी अपनी जीवनी दृष्टि को भी महत्व दिया जायेगा तो फिर काफिरों को कत्लेआम करने अथवा जिन प्रथाओं को हमारा धर्मग्रन्थ नहीं मानता उसे राकेटबम या मुद्गर के हवाले ही होना चाहिये, यह दृष्टि भी कम होगी और 'परस्परोग्रह' द्वारा प्रत्येक धर्म की अच्छाई को अपनाने पर साम्प्रदायिक संघर्ष के लिये कोई स्थान नहीं होगा।

आर्थिक दृष्टिकोण से भी एक वर्ग दूसरे वर्ग की भावना का सम्मान करना सीख लेता और हित की थोड़ी उपेक्षा सहकर भी दूसरे के हित के साधन को प्रमुखता देता तो फिर जर्मनी के किसी कोने में यह घोषणा नहीं होती कि संसार में एक वर्ग के लिये कोई स्थान नहीं होगा। वह यदि जियेगा तो गोली चलने की आवाज तक या किसी फाँसी के फंदे पर झूलने तक ही जीवित रह पायेगा, ऐसी रंक्तरंजित स्थितियाँ नहीं बन पायेगी। मजदूर पूंजीपति की आवश्यकता को समझेगा तथा पूंजीपति मजदूर की आवश्यकता और सुविधा का ध्यान रखेगा तो फिर वहाँ वह स्थिति बनेगी जिसके लिये यह कहना पड़े कि इसी वर्ग की तानाशाही हमारा कल्याण करेगी।

स्वयं की आवश्यकता के चिन्तन के साथ ही अपने कार्य के लिए आये हुए व्यक्ति के दुःख और दर्द के प्रति सम्मानजनक दृष्टि यदि विकसित होगी, उसके प्रति सहानुभूति होगी तो व्यक्ति उसका कार्य समय पर करेगा और भ्रष्टाचार के बड़े-बड़े काण्डों की ध्वनियाँ सुनाई नहीं देगी। यदि वह अर्थ और काम की अपेक्षा धर्म और मोक्ष को भी सम्मान की दृष्टि से देखते हुए कहेगा कि "जीवन की डोर सौंप रामजी के हाथ में तू अकेला नहीं प्यारे राम तेरे साथ में" की भावना से चलने पर व्यक्ति में धर्म और मोक्ष की भावना उभरेगी और वित्त के लिये बड़े-बड़े घोटाले नहीं होंगे।

प्रकृति से संघर्ष के स्थान पर सामञ्जस्य की पद्धति विकसित होगी तो वृक्षों, पशुओं, पर्वतों, नदियों के प्रति आदर का भाव विकसित होगा तो हम अन्धा-धुन्ध वृक्षों की कटाई नहीं करेंगे। अपने से नीचे आने वाली आबादी को पानी की आवश्यकता है, यह सोचेंगे तो बड़े-बड़े बांध-बांधकर नदी के निचले हिस्से वालों को जल से वंचित नहीं करेंगे और न ही हम हमारा कार्य पूरा होते ही गंदगी जहाँ की तहाँ छोड़कर जा पायेंगे, जिससे पर्यावरण प्रदूषण रुकेगा। तभी हम जीवित रह पायेंगी कि यह भूमि मेरी माता है, मैं इसका पुत्र हूँ। फिर भला मैं अपवित्र और क्रूरता पूर्वक प्रहार कैसे करूंगा।

इसके महत्व के विषय में अध्यात्म उपनिषद् में कहा गया है—

भिन्नापेक्षया यथैकत्र पितृपुत्रादि कल्पना।

नित्यानित्याद्यनेकान्तरस्तथैव न विरोत्स्यते ॥

इस प्रकार अन्त में यह कहा जा सकता है कि अनेकान्त दृष्टि से विचार करने पर व्यक्ति के मन में उदारता आती है और दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की प्रवृत्ति विकसित तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

होती है। इस प्रवृत्ति के कारण दुराग्रह कम होता है। दुराग्रह के कारण अपनी बात को सत्य सिद्ध करने के लिये हुई विद्रूपता से मुक्ति मिलती है।

उपाध्याय यशोविजय के शब्दों में 'अनेकान्तवादी किसी धर्म दर्शन से द्वेष नहीं करता। वह सम्पूर्ण दर्शनों को इस प्रकार से वात्सल्य-दृष्टि से देखते हैं जैसे कोई पिता-पुत्र को।'

यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव ।

तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधि शेमुसी ।⁸

संदर्भ ग्रन्थ :

1. साधना के शलाका पुरुष गुरुदेव तुलसी, पृ. 211
2. वही, पृ. 300
3. स्याद्वादमंजरी श्लोक-22
4. महावीर व्यक्तित्व और विचार, पृ. 40-41
5. (क) अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।—लघीयस्त्रय टीका, 62
(ख) एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्धनानाधर्मा स्वीकारो हि स्याद्वादः। स्याद्वादो नैकान्तवादः। — स्याद्वादमंजरी, टीका-5
6. द्रष्टव्य, 4/7
7. श्रमण महावीर, पृ. 180
8. अध्यात्मसार, श्लोक-6

संस्कृत विभाग
सुखाड़िया विश्वविद्यालय
उदयपुर (राजस्थान)

शान्त-सहवास में अनेकान्त की भूमिका

— साध्वी आरोग्यश्री

शिष्य ने अपने गुरु से जिज्ञासा करते हुए कहा, भंते! क्या मैं समुदाय में रहकर शांत-सहवास को प्राप्त कर सकता हूँ? क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को शांति अभिष्ट है, सुख प्रिय है। कोई भी अशांति का जीवन जीना नहीं चाहता। गुरु ने समाधान के स्वर्णों में शिष्य से कहा— वत्स ! तुम समुदाय में रहकर भी शांत सहवास को प्राप्त कर सकते हो। किन्तु अशांत सहवास के कुछ हेतु हैं, उनका निराकरण करके ही शांत-सहवास को प्राप्त कर सकते हो। सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन में शांति खण्डित होने के अनेक हेतु हैं, किन्तु कुछ तत्त्व प्रमुख हैं। जैसे—

● निरपेक्ष व्यवहार ● सहिष्णुता का अभाव ● आग्रही मनोवृत्ति ● परदोष दर्शन, इन समस्याओं के निराकरण का मार्ग है — अनेकान्त।

अनेकान्त जैन दर्शन का प्राण-तत्त्व है। इस सिद्धान्त के प्रबल प्रवक्ता हैं भगवान महावीर। भगवान महावीर का यह सिद्धान्त पूर्ण वैज्ञानिक एवं सार्वभौमिक है। एक साथ रहने वाले अनेक विरोधी धर्मों के समन्वय का मार्ग है— अनेकान्त। अनेकान्त ऐसा तत्त्व है जो विवादास्पद प्रसंग में भी सामंजस्य स्थापित करने वाली मनोवृत्ति को पनपने का अवसर देता है। प्रश्न उपस्थित होता है, क्या अनेकान्त जीवन का दर्शन बन सकता है? क्या अनेकान्त के द्वारा सम-सामयिक समस्याओं का समाधान खोजा जा सकता है? अनेकान्त वह धुरी है जहाँ जीवन के व्यावहारिक पक्ष से जुड़ी समस्याओं का एवं राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान अनेकान्त के आलोक में प्राप्त किया जा सकता है। अनेकान्त साधना का महान् सूत्र है। जीवन का समग्र दर्शन है।

सापेक्षव्यवहार, सहयोग, सहिष्णुता, विनम्रता, सेवाभावना, प्रमोद भावना आदि तत्त्व शांत सहवास के घटक तत्त्व हैं। जिस परिवार, समाज या संस्था में ये

तत्त्व विकासशील हों उसमें शांत-सहवास की उपलब्धि संभव है। जीवन का सबसे बड़ा सुख शांति पूर्वक रहने में है। एक साथ रहकर तीए छक्के की तरह रहना जीवन की सबसे बड़ी विडम्बना है। जहां परिवार के सब लोग एक दूसरे के सुख-दुःख में हार्दिक भाव से अपनी भागीदारी रखते हैं वह परिवार सुख-शांति और विकास की अकल्पित ऊंचाइयों को छू सकता है। जहां ऐसा नहीं होता वहां विकास की सम्भावनाओं के दरवाजे बन्द हो जाते हैं। शांत सहवास पर चर्चा करने से पूर्व अशांत सहवास के कारण भी विमर्शनीय हैं—

निरपेक्ष व्यवहार :

उमास्वाति का महत्त्वपूर्ण सूत्र है— ‘परस्परपग्रह जीवानाम्’ सभी प्राणी परस्पर एक दूसरे का उपकार करते हैं।¹ यह सूत्र अनेकान्त-दर्शन का संवाहक तथा शांत सहवास का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। व्यक्ति का जीवन सापेक्षता व सहयोग के आधार पर चलता है। उसका विकास समन्वय, सौहार्द व सापेक्ष दृष्टिकोण पर निर्भर करता है। सामाजिक प्राणी का जीवन संबंधयुक्त होता है। संबंधों की भूमिका में एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है — सापेक्ष चिन्तन। बहुत से लोगों का चिन्तन निरपेक्ष होता है। उनके अनुसार उन्हें किसी के सहयोग की आवश्यकता नहीं और न ही वे दूसरों का सहयोग करने के लिए तत्पर रहते हैं। उनकी स्वार्थ चेतना केवल स्व तक ही सिमटी रहती है। उनका सिद्धान्त रहता है— मैं पिया, मेरा बैल पिया, अब चाहे कुआ ढह पड़े। यह चिन्तन किसी भी परिवार, संस्था या संगठन में शान्त सहवास का कारण नहीं बनता। पूज्य गुरुदेवश्री तुलसी ने अपनी कृति ‘पंचसूत्रम्’ में सापेक्षता का उल्लेख करते हुए लिखा है —

‘सापेक्षत्वविकासेन सहयोगोऽभिवर्धते ।

सहयोगस्य भावोऽस्ति तत्र प्रीतिःपरा भवेत् ॥’

परस्परता के विकास से सहयोग का विकास होता है। जहां सहयोग होता है वहां पारस्परिक प्रेम सहज उदित होता है।² पति पत्नि के साथ निरपेक्ष व्यवहार करता है तो पारिवारिक जीवन अस्वस्थ बन जाता है। पड़ोसी पड़ोसी के साथ कटु व्यवहार करता है तो कटुता बढ़ती है, शत्रुता पनपने लगती है, न्यायालय के द्वार खटखटाने की स्थिति तक बन जाती है।³

आज व्यक्ति स्व को जितना महत्त्व देता है पर को उतना ही नकारने लगता है। स्व को महत्त्व देना बुरा नहीं है, यदि इससे किसी दूसरे का हित खंडित न हो। जब दूसरों का हित खंडित होने लगता है तो अशांति का वातावरण उत्पन्न हो जाता है, समस्याएं पैदा होने लगती हैं और संघर्ष के ज्वालामुखी फूटने लगते हैं। एक परिवार में अनेक सदस्य होते हैं। सभी व्यक्ति अलग-अलग विचारों वाले, अलग-अलग रुचि-मान्यता-सिद्धान्त वाले होते हैं। किन्तु फिर भी सब एक दूसरे के पूरक हैं। एक दूसरे के बिना किसी का काम नहीं चलता, सबका परस्पर सहयोग व सामंजस्य सापेक्ष होता है। जिस प्रकार हमारे शरीर में अनेक प्रकार की ग्रंथियां होती हैं। सबके अलग-अलग कार्य, अलग-अलग भाव, अलग-अलग

हार्मोन्स होते हैं। फिर भी सब एक दूसरे के पूरक हैं, परस्पर सहयोग हैं, सामंजस्य हैं। जब तक सामंजस्य पूर्वक ग्रंथितंत्र काम करता है तब तक शारीरिक स्थिति ठीक रहती है। सहयोग व सामंजस्य के अभाव में सारा तंत्र गड़बड़ा जाता है, असंतुलित हो जाता है। संतुलन का आधार है अनेकांतिक दृष्टिकोण।³ ठीक यही स्थिति हमारे जीवन की है। यदि व्यक्ति सामूहिक जीवन में एक दूसरे की आवश्यकताओं को नजरअंदाज करने लगता है तो ऐसी स्थिति में परस्पर टकराव उत्पन्न होने लगता है, अलगाव की दीवारें खिच जाती हैं, धीरे-धीरे वैमनस्य, घृणा और प्रतिशोध की भावनाएं पनपने लगती हैं, सरस जीवन में विरसता का विष घुलने लगता है।

इसके विपरीत यदि परिवार के सभी सदस्य एक दूसरे के दुःख सुख को समझें, एक दूसरे की अपेक्षाओं को ध्यान में रखें तथा एक दूसरे के लिए सहयोगी बनें तो पारिवारिक जीवन मधुमय बन जाता है, शांत सहवास की सुवास चारों ओर बिखरने लगती है। निरपेक्ष व्यवहार जहां बिखराव पैदा करता है वहीं अनेकांत का सापेक्ष व्यवहार बिखरी मणियों को सुन्दर माला का आकार प्रदान करता है। शांत-सहवास के लिए जरूरी है समाज में सामूहिक चेतना का विकास और इसके लिए सबका सहयोग, सौहार्द, सहभागिता, संवेदनशीलता और एक दूसरे को समझने की गुणात्मकता का होना भी अपेक्षित है। सापेक्ष-व्यवहार शांत, सरस और सुखी जीवन का मूलमंत्र है।

सहिष्णुता का अभाव :

व्यक्ति के जीवन का हर पहलू चाहे सामाजिकता से जुड़ा हो या आध्यात्मिकता से, सहिष्णुता का स्पर्श पाकर ही चमकता है। सहिष्णुता से ही जीवन को नया प्रकाश मिलता है। इस संसार में जो भी व्यक्ति महान् बने हैं उन्होंने अपने जीवन में बहुत कुछ सहा है। सहन करना जिसके जीवन का लक्ष्य नहीं वह कभी महान् नहीं बन पायेगा। जो सहना नहीं जानता वह संघर्ष को जन्म देता है। परिवार का शांत-सहवास सहिष्णुता के कारण ही सुरक्षित रह सकता है। शांत-सहवास के लिए एक दूसरे के विचारों, व्यवहारों और तौर-तरीकों को सहना बहुत जरूरी है। सहना केवल छोटों के लिए ही जरूरी नहीं, बड़े लोगों के लिए तो वह कर्तव्य की कसौटी है। इस प्रसंग में गुरुदेव श्रीतुलसी ने 'पंचसूत्रम्' में लिखा है—

“कनिष्ठं कर्हिचिज्ज्येष्ठः कदाचित् तं कनिष्ठकः।

सहेत सुधिया शान्त-सहवासस्य हेतवे॥”

शांत सहवास के लिए कभी छोटा बड़े को और बड़ा छोटे को सम्यक् प्रकार से सहन करें।⁴ अनेकांत के दर्शन से ही एक दूसरे को सहन करना संभव है, क्योंकि सहना दीनता नहीं, व्यक्ति की उदारता है। सहन करने का मतलब है शक्ति का विकास, शौर्य और पराक्रम का विकास।⁵

व्यक्ति चाहे अकेला रहता हो या समूह में, सहना जीवन की अपरिहार्यता है। जो सहना जानता है, वह अपने जीवन के उतार-चढ़ाव में सम रह सकता है। अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियां उसके संतुलन को तोड़ नहीं सकती। असंतुलन का खतरा अवरस्था के हर

पड़ाव पर मंडराता रहता है। समता और सहिष्णुता से विषम पगडंडियों को पार किया जा सकता है। अन्याय और अत्याचार को सहना पाप है तो बड़े बुजुर्गों के आदेश निर्देशों को सहन न करना अभिशाप है।⁶ इन दोनों के बीच का एक नया रास्ता है— अनेकांत जो समन्वय के आधार पर सहन करने की भावना का विकास करता है। असहिष्णुता के युग में सहिष्णुता का दर्शन यदि जीवन में उतरे तो निश्चित रूप से व्यक्ति अपने जीवन में शांत-सहवास का अनुभव करेगा तथा उसके व्यवहार में शांति का प्रतिबिम्ब झलकेगा।

आग्रही मनोवृत्ति :

सामुदायिक जीवन में सामंजस्य का बहुत बड़ा विघ्न है— आग्रही मनोवृत्ति। समूह में अनेक प्रकार के व्यक्ति होते हैं—कुछ विनम्र, समर्पित व अनाग्रही, तो कुछ उद्दण्ड, स्वेच्छाचारी व आग्रही। आग्रही मनोवृत्ति का मूल कारण है— व्यक्ति की अहं भावना। अहंप्रधान दृष्टिकोण के कारण व्यक्ति केवल अपनी ही पकड़ रखता है। दूसरों के चिन्तन, तर्क या विचार को सनने या समझने के लिए वह तैयार नहीं। मानव मन में छिपी इस अहं की चिनगारी ने अनेक

4. परदोष दर्शन :

यूनान के महान् दार्शनिक सुकरात से पूछा गया - दुनियां में सबसे सरल काम क्या है? उत्तर मिला बिना मांगे दूसरों को सलाह देना और दूसरों को सुधारने का प्रयत्न करना। अगला प्रश्न था सबसे कठिन काम क्या है? सुकरात ने कहा — सबसे कठिन है स्वयं को देखना और बदलना।⁸

सचमुच ! दूरदर्शन के युग में स्व दर्शन बहुत कठिन है। परदोष दर्शन व्यक्ति की मानसिक दुर्बलता है, जो कि अशांतसहवास का बहुत बड़ा कारण है। आज व्यक्ति का ध्यान दूसरों की गलतियों पर ही अधिक केन्द्रित रहता है। स्वयं के घर में क्या हो रहा है, इसकी उसे चिन्ता नहीं, किन्तु पड़ोसी के घर की चिन्ता उसे हर पल लगी रहती है। निरन्तर परदोष दर्शन में उलझा हुआ व्यक्ति किसी का भी विश्वास नहीं करता। वह हर व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति को संदेह की आंखों से देखता है। यहीं से प्रारम्भ होता है एक अंतहीन सिलसिला दोषारोपण का तथा शिकायत की वृत्ति का। इन सबका एकमात्र कारण है व्यक्ति का नकारात्मक दृष्टिकोण। उसे किसी भी व्यक्ति में या उसके कार्य में अच्छाई नजर आती ही नहीं। ऐसी स्थिति में बार-बार टोका-टोकी करने की आदत सामूहिक जीवन में अशांतसहवास का कारण बनती है।

जबकि अनेकांत के अनुसार हर वस्तु का पक्ष होता है तो प्रतिपक्ष भी होता है। यत् सत् तत् सत्-प्रतिपक्षम्। दो विरोधी युगल एक साथ रह सकते हैं, एक साथ मिलकर कार्य कर सकते हैं, जैसे आग और पानी, प्रकाश और अंधकार, उष्णता और ठंडक, अच्छाई और बुराई। जहां बुराई है वहां अच्छाई भी अवश्य होगी। अपेक्षा है कि हम सम्यग् दृष्टिकोण को अपनाकर अपने नजरिये को बदलें। सापेक्षता के आधार पर हम दुर्गुणों के साथ-साथ सद्गुणों पर भी नजर डालें तो अवश्य ही जीवन में शांतसहवास की सौरभ महकेगी।

अनेकांत एक विराट् दर्शन है जिसका उपयोग केवल तात्त्विक या सैद्धान्तिक दृष्टि से ही नहीं, अपितु व्यावहारिक जीवन में शांतसहवास की दृष्टि से भी इसकी सर्वत्र उपादेयता है। समस्याओं की भीड़ में समाधान तभी खोजा जा सकता है जब हम अनेकांत के दर्शन को अपने जीवन व्यवहार में उतारें।

सन्दर्भ :

1. तत्त्वार्थ सूत्र 5/21
2. पंचसूत्रम् 5/16
3. जैन धर्म जीवन और जगत पृ. - 106
4. पंचसूत्रम् 5/49
5. विचारों को बदलना सीखें पृ. 154-155
6. सत्य का पंछी विचारों का पिंजरा पृ. 175
7. आमंत्रण आरोग्य को पृ. 37.
8. जोत जले बिन बाती पृ. 47

सम्पर्क सूत्र :

जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनू

अनेकान्त का सामाजिक पक्ष

—श्रीमती रंजना जैन

वर्तमान-युग व्यावहारिक उपयोगिता का युग है। जो वस्तु या सिद्धान्त व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है, वह लोकमान्य नहीं होता है, अतः आज यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक धार्मिक सिद्धान्त की व्यावहारिक उपयोगिता का गवेषणापूर्वक निर्णय करके सक्षम पद्धति से उसका प्रतिपादन किया जाये ताकि वर्तमान परिस्थितियों में उसकी लोकमान्यता बनी रहे।

वस्तुतः यह समीक्षा मात्र लोकमान्यता के लिये ही अपेक्षित नहीं है, अपितु यह इसलिये भी जरूरी है कि उस सिद्धान्त की एवं उस सिद्धान्त के प्ररूपकों की सार्थकता प्रमाणित हो सके अन्यथा वे सिद्धान्त कोरी गल्प या वैचारिक खुरापात ही सिद्ध होंगे तथा उनके प्रतिपादकों की प्रामाणिकता भी संदिग्ध हो जायेगी। इन्हीं दृष्टियों को समक्ष रखते हुये मैंने इस आलेख में 'अनेकान्तवाद' सिद्धान्त के सामाजिक पक्ष पर विचार प्रस्तुत करने का निर्णय लिया है।

प्रथमतः अनेकांत का सामान्य-स्वरूप यहाँ विचारणीय है। आगमग्रंथों में अनेकांत का लक्षण निम्नानुसार कहा गया है— 'को अणयंतो णाम?— जच्चंतरत्तं'¹ अर्थात् अनेकांत किसको कहते हैं?—इसका उत्तर है कि जात्यंतरभाव को अनेकांत कहते हैं। अभिप्राय यह है कि अनेक धर्मों या स्वादों के एकरसात्मक मिश्रण से जो जात्यन्तरपना या स्वाद उत्पन्न होता है, वही 'अनेकांत' शब्द का वाच्य है।

इसी बात को और स्पष्ट करते हुये समयसार के टीकाकार 'आचार्य अमृतचंद्र सूरि' लिखते हैं कि— एक वस्तुनि वस्तुत्व-निष्पादक-परस्पर विरुद्ध शक्तिद्वय प्रकाशनमनेकान्तः अर्थात् एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकान्त है। इसी बात को न्याय की शैली में परिभाषित करते हुए (आचार्य भट्ट) अकलंकदेव लिखते हैं—

**“एकत्र प्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणो
युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकान्तः।”³**

अर्थात् युक्ति व आगम से अविरुद्ध एक ही स्थान पर प्रतिपक्षी अनेक धर्मों के स्वरूप का निरूपण करना सम्यग् अनेकान्त है।

जिस प्रकार अतिसंक्षेप में अनेकांत के मूलस्वरूप का विचार किया गया, उसी प्रकार यह भी अपेक्षित है कि ‘समाज’ शब्द का अभिप्राय भी जाना जाये। प्राचीनकाल में ‘समाज’ शब्द का अर्थ विशेष-आयोजन होता था, जिनमें बहुत से लोग एकत्र होकर परस्पर आमोद-प्रमोद करते थे। ‘बाल्मीकि रामायण’ में ऐसे समाजों को राष्ट्र की समृद्धि का सूचक माना गया है⁴—

‘उत्सवाश्च समाजाश्च वर्धन्ते राष्ट्रवर्धनाः’

संभवतः इसलिये सम्राट् खारवेल ने अपने हाथीगुम्फा अभिलेख में यह लिखवाया—**उत्सव-समाज कारापनाहि**⁵ अर्थात् प्रजा के सुख और समृद्धि के लिये मैंने अनेक प्रकार के उत्सवों एवं समाजों का आयोजन करवाया।

प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने अपने ‘गिरनार अभिलेख’ में भी इस संबंध में उल्लेख किया है और बताया है कि ये समाज दो तरह के होते थे— एक तो मात्र ऐसे जिनमें दिखावे और आडम्बर की प्रधानता थी, और दूसरे वे जो राष्ट्र की वृद्धि के निमित्त थे। इसीलिये उसने राष्ट्र की समृद्धिकारक समाजों के आयोजन की प्रेरणा दी थी तथा आडम्बरपूर्ण समाजों के प्रति लोगों को हतोत्साहित किया था।⁶

किन्तु वर्तमान संदर्भों में ‘समाज’ का अर्थ अनेकविध मनुष्यों का वह संगठनात्मक स्वरूप है, जो पारस्परिक हित-सुख एवं राष्ट्र की समृद्धि के लिये जुड़ते हैं और शिष्टता एवं सहयोग के अपने नियमों के अंतर्गत नई उपलब्धियों के लिये मिल-जुलकर कार्य करते हैं। ‘समाज’ शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति भी इस पक्ष का समर्थन करती है; क्योंकि शाब्दिक रूप से ‘सम्’ एवं ‘आड्’ उपसर्गपूर्वक ‘जन्’ धातु से समाज शब्द की निष्पत्ति मानी गयी है, जिसका अर्थ होता है कि जो अच्छी तरह से, सब ओर से उत्पत्ति या समृद्धि करे वह समाज है। इससे स्पष्ट ज्ञापित हो जाता है कि ‘बहुजनहिताय’ एवं ‘बहुजनसुखाय’ की मंगलभावना के साथ पारस्परिक सौहार्द एवं सामूहिक उन्नति के लिये बना मनुष्यों का संगठन ही समाज है। वैसे इस संगठनात्मक स्वरूप में मनुष्यों के अलावा पशु-पक्षी और पेड़-पौधे भी समाहित हो जाते हैं; क्योंकि ये भी ‘परस्परपग्रहो जीवानाम्’⁷ की उक्ति को चरितार्थ करते हैं।

अब यहाँ प्रश्न आता है कि अनेकांत एवं समाज का क्या मेल हो सकता है? तो जैसे अनेकांत परस्पर-विरोधी अनेक धर्मों का अविरोधीभाव से एक सहावस्थान है, उसी प्रकार समाज भी धनी-निर्धन, सुशिक्षित-अल्पशिक्षित (अशिक्षित), किसान-व्यापारी, लेखक-सैनिक आदि विविध प्रकृतियों वाले लोगों का पारस्परिक अवरोध एवं सहयोग की भावना से निर्मित वह रूप है, जिसमें इतने प्रकार के लोग सहावस्थानरूप से रहते हैं तथा जो भी इस भावना का उल्लंघन करता है, उसे असामाजिक तत्त्व माना जाता है।

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

इस सामाजिक सौहार्द में संशय, छल, सर्वजनसम्मत नहीं होना एवं अनुपयोगी होना— ये समाज-विघातक-तत्त्व माने गये हैं। किन्तु अनेकांत में इनमें से कोई भी दोष नहीं पाया जाता है, इसे मैं शास्त्रों के प्रमाणों के आधार पर यहाँ क्रमशः स्पष्ट करूंगी।

अनेकांत छलरूप नहीं है, क्योंकि 'छल' का लक्षण आचार्य अकलंकदेव ने इस प्रकार बताया है—

“वचनाविघातोऽर्थविकल्पोपत्त्या छलम्, यथा नवकम्बलोऽयं देवदत्तः।”

यहाँ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना करके वचन-विघात किया जाता है, वहाँ छल होता है; जैसे 'नवकम्बलोऽयं देवदत्तः' यहां 'नव' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक नौ संख्या और दूसरा 'नया' या 'नूतन'। यहाँ नये विवक्षा से कहे गये नवशब्द का संख्यारूप अर्थ कहना—यह छल है। जबकि अनेकांत में ऐसा नहीं है; क्योंकि मुख्य गौण-विवक्षा से संभव अनेक धर्मों का निर्णयात्मकरूप से प्रतिपादन करने वाले अनेकांत में वचन का विघात नहीं किया गया है; अपितु वस्तुतत्त्व का यथावत् निरूपण किया गया है।

इसी प्रकार अनेकांत के संशय रूप होने का भी बहुत अच्छी तरह निराकरण आचार्य अकलंक ने किया है। वे लिखते हैं कि — “संशयहेतुरनेकान्तवादः। कथम्? एकत्राधारे विरोधिनाऽनेकस्यासम्भवात्।... तच्च न कस्मात्। विशेष लक्षणोपलब्धेः इह सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषरश्मृतैश्च संशयः।... न च तद्वदनेकान्तवादे विशेषानुलब्धिः, यतः स्वरूपादेशवशीकृता विशेषा उक्ता वक्तव्याः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्ते। ततो विशेषोपलब्धेर्नसंशयहेतुः। विरोधाभावात् संशयाभावः। उक्तादर्पणाभेदाद्धि एकत्रविरोधेनाविरोधो धर्माणां पितापुत्रादि-संबंधवत्। सपक्षासपक्षापेक्षोपलक्षितसत्त्वासत्त्वादिभेदोपचितैकधर्मबद्धा।”⁹

अनेकांत संशय का हेतु है, क्योंकि एक आधार में अनेक विरोधी धर्मों का रहना असंभव है। इसका उत्तर है— नहीं, क्योंकि यहाँ विशेष लक्षण की उपलब्धि होती है। सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष होने से विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने पर, किन्तु उभय-विशेषों का स्मरण होने पर संशय होता है। जैसे धुंधली रात्रि में स्थाणु और पुरुषगत ऊंचाई आदि सामान्य धर्म की प्रत्यक्षता होने पर स्थाणुगत पक्षी-निवास व कोटर तथा पुरुषगत सिर खुजाना, कपड़ा हिलना आदि विशेष धर्मों के न दिखने पर, किन्तु उन विशेषणों का स्मरण रहने पर ज्ञान दो कोटि में दोलित हो जाता है कि 'यह स्थाणु है या पुरुष।' इसे संशय कहते हैं। किन्तु इस भाँति अनेकांतवाद में विशेषों की उपलब्धि नहीं है, क्योंकि स्वरूपादि की अपेक्षा करके कहे गये और कहे जाने योग्य सभी विशेषों की प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है। इसलिये अनेकांत संशय का हेतु नहीं है। इन धर्मों में परस्पर विरोध नहीं है, इसलिये भी संशय का अभाव है।

पिता-पुत्रादि-संबंधवत् मुख्य गौण विवक्षा से अविरोध सिद्ध है तथा जिस प्रकार वादी या प्रतिवादी के द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक हेतु स्वपक्ष की अपेक्षा साधक और परपक्ष की

अपेक्षा दूषक होता है, उसी प्रकार एक ही वस्तु में विविध अपेक्षाओं से सत्त्व-असत्त्वादि विविध धर्म रह सकते हैं; इसलिये भी विरोध नहीं है।

इसी प्रकार अनेकांतवाद की किसी न किसी रूप में सर्वमत सम्मत्ता उन्होंने भली-भांति प्रमाणित कर वे लिखते हैं—

प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है, इसमें किसी वादी को विवाद भी नहीं है। यथा सांख्य लोग सत्त्व, रजः और तम — इन भिन्न स्वभाव वाले धर्मों का आधार एक 'प्रधान' (प्रकृति) मानते हैं। उनके मत में प्रसाद, लाघव, शोषण, अपवरण, सादन आदि भिन्न-भिन्न गुणों का 'प्रधान' से अथवा परस्पर में विरोध नहीं है। वह 'प्रधान' नामक वस्तु उन गुणों से पृथक् ही कुछ हो सो भी नहीं है, किन्तु वे ही गुण साम्यावस्था को प्राप्त करके 'प्रधान' संज्ञा को प्राप्त होते हैं। और यदि ऐसे हों, तो प्रधान भूभा (व्यापक) सिद्ध होता है। यदि यहाँ पर कहा कि उनका समुदाय प्रधान एक है, तो स्वयं ही गुणरूप अवयवों के समुदाय में अविरोध सिद्ध हो जाता है। वैशेषिक आदि सामान्य स्वीकार करते हैं। एक ही पृथ्वी स्वव्यक्तियों में अनुगत होने से सामान्यात्मक होकर भी जलादि से व्यावृत्ति कराने के कारण विशेष कहा जाता है। उनके यहाँ 'सामान्य ही विशेष है' इस प्रकार पृथिवीत्व आदि को सामान्य-विशेष माना गया है। अतः उनके यहाँ भी एक आत्मा के उभयात्मकपन विरोध को प्राप्त नहीं होता। बौद्धजन कर्कश आदि विभिन्न लक्षणवाले परमाणुओं के समुदाय को एकरूप स्वलक्षण मानते हैं। इनके मत में भी विभिन्न परमाणुओं में रूप की दृष्टि से कोई विरोध नहीं है। विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध एक ही विज्ञान को ग्राह्याकार, ग्राह्यकाकार और संवेदनाकार— इस प्रकार त्रयाकार स्वीकार करते ही हैं। सभी पूर्वावस्था को कारण और उत्तरावस्था को कार्य मानते हैं। अतः एक ही पदार्थ में अपनी पूर्व और उत्तर-पर्यायों की दृष्टि से कारण-कार्य-व्यवहार निर्विरोधरूप से होता है। उसी तरह सभी जीवादि पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक धर्मों के आधार सिद्ध होते हैं।

अनेकांत के उपदेश का प्रयोजन बताते हुये आचार्य अमृतचंद्र सूरि लिखते हैं—
“अनेकांत के ज्ञान के बिना आत्मवस्तु की प्रसिद्धि (ज्ञान) नहीं हो सकती है।”¹¹

आचार्य समन्तभद्र इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखते हैं कि—“अनेकांत-दृष्टि ही सच्ची दृष्टि है तथा एकांत मान्यतायें असत् सिद्ध होती हैं, इसलिये अनेकांत-दृष्टि से रहित सभी मान्यताओं को मिथ्या कहा गया है।”¹²

वस्तुतः विरोध में भी अविरोध की स्थापना अनेकांतवाद की कृपादृष्टि के बिना संभव नहीं है।¹³ सभी विद्वानों ने अनेकांतमय-चिन्तन और प्ररूपण को विरोध-नाशक होने से अनेकांत की प्रबलता का समर्थन किया है।¹⁴

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अनेकांत जहां प्रत्येक वस्तुत्व में परस्पर विरुद्ध अनेक धर्मों को अविरोधीभाव से युगपत् रहने की बात कहता है, वहीं अनेकांत का सिद्धान्त व्यक्ति के

चिन्तन को भी 'विरोध न समझकर उसकी अपेक्षा एवं विवक्षा को समझकर' सहनशीलता का पाठ भी पढ़ाता है। और यही सहनशीलता व्यक्ति के व्यक्तित्व में ऐसे संस्कार उत्पन्न करती है, जिससे उसकी सामाजिक व्यवस्था के अंग के रूप में उपादेयता बढ़ जाती है।

जैसे एक नगर में बढ़ई, लोहार, चर्मकार, व्यापारी, मजदूर, प्रशासक आदि अनेक भिन्न प्रकृति के लोगों का सहायस्थान हुये बिना और इनकी एक-दूसरे के प्रति अपने-अपने कार्य एवं स्वरूप को सुरक्षित रखते हुये अविरोधी दृष्टि हुये बिना समाज का ढांचा निर्मित ही नहीं हो सकता है, अतः 'समाज' के वर्तमान स्वरूप में अनेकान्त-दृष्टि की अपरिहार्यता सिद्ध होती है। आज की लोकतांत्रिक व्यवस्था में तो अनेकांतवाद की सर्वाधिक मुखर स्वीकृति मिलती है; क्योंकि इसमें परस्पर विरोधी दल एक ही जगह बैठकर एक ही संविधान की शपथ लेकर एक राष्ट्र की भावना से अपनी-अपनी विचारधारा की स्वतंत्र अभिव्यक्ति करते हैं। वस्तुतः उनमें से राष्ट्रीयता का विरोध कोई नहीं करता, अतः उन्हें परस्पर विरोध होते हुये भी एक राष्ट्र का सांसद कहा जाता है। इस प्रकार अनेकांतवाद की दृष्टि से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र इन सभी के संरचना का मूल आधार है तथा संयुक्त राष्ट्र का सिद्धान्त भी परस्पर विरुद्ध या भिन्न प्रकृतियों के होते हुये भी सह-अस्तित्व की भावना की स्वीकृति पर आधारित है। इस प्रकार अनेकांतवाद का वैश्वीकरण हमें परिलक्षित होता है।

संदर्भ ग्रंथ

1. धवला, 15/25/1
2. समयपाहुड, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट।
3. राजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 6-7 की वार्तिक 35।
4. बाल्मीकि रामायण।
5. हाथीगुम्फा अभिलेख।
6. गिरनार का अभिलेख।
7. तत्त्वार्थसूत्र।
8. राजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 6 से 8, पृष्ठ संख्या 36।
9. वही, अध्याय 1, सूत्र 6, वार्तिक 9 से 12।
10. वही, अध्याय 1, सूत्र 6, वार्तिक 14; तथा गीता, 13/14-16, एवं ईशोपनिषद्, 8।
11. राजवार्तिक, अध्याय 1, सूत्र 6 से 8, पृष्ठ संख्या 36।
12. द्रष्टव्य, समयसार परिशिष्ट।
13. स्वयंभूस्तोत्र, कारिका 98।
14. पंचास्तिकाय-तत्त्वप्रदीपिका, गाथा 211।
15. पंचाध्यायी पूर्वार्द्ध, गाथा 227।

बी-32, छत्तरपुर एक्सटेंशन
नन्दा फार्म के पीछे
नई दिल्ली-110 030

अनेकान्तवाद की प्रासंगिकता

—सिद्धेश्वर भट्ट

भारतीय संस्कृति के विविध रंगों और बहुआयामी पटल में श्रमण परम्परा का अनूठा योगदान रहा है। श्रमण परम्परा के तीन प्रमुख आधार स्तम्भ रहे हैं। पहला है 'सम' जिसका तात्पर्य है सर्वजीव समभाव। दूसरा है 'शम' जो आत्म कल्याण हेतु त्याग-तपस्या एवं इन्द्रिय-संयम पर विशेष महत्व देता है। तीसरा स्तम्भ है 'श्रम' जो अपने उत्कर्ष के लिए परमुखापेक्षी न होकर स्वावलम्बन एवं स्व पुरुषार्थ का उपदेश देता है। ये तीनों विचार एवं आचार के सिद्धान्त आज भी उतने ही सार्थक एवं उपयोगी हैं जितने वे उस समय थे जब भगवान महावीर एवं उनके पूर्ववर्ती तैवीस तीर्थंकरों ने इनका प्रणयन किया था।

श्रमण परम्परा का मूल आधार अनेकांतवादी दृष्टि है। इसके अनुसार समस्त चराचर विश्व एवं उसके पदार्थ अनंत धर्मात्मक हैं। प्रत्येक वस्तु में देश-काल-स्थिति के भेद से अनेकविध द्रव्य, गुण और पर्याय उत्पन्न होते हैं और समाप्त होते हैं। कोई व्यक्ति जिस रूप में किसी वस्तु को देखता है, उसका स्वरूप उतना या वैसा ही नहीं है। मनुष्य की दृष्टि सीमित है परन्तु वस्तु का स्वरूप असीम है। उसमें अनन्त धर्म एवं अनन्त प्रदेश होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार किसी वस्तु के बारे में भांति-भांति के विचार हो सकते हैं और वे परस्पर विरोधी भी हो सकते हैं। परन्तु उनमें भी सामंजस्य है, अविरोध है और जो उसे भली-भांति देख सकता है वही वास्तव में तत्त्वदर्शी है। परस्परविरोधी विचार 'स्याद् अस्ति' और 'स्याद् नास्ति' अर्थात् 'है भी' और 'नहीं भी है' के रूप के व्यक्त किए जा सकते हैं और उनमें अविरोध भी देखा जा सकता है। यह तथ्य आज के परमाणविक वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। अतः यह विचार आगम सम्मत होने के साथ-साथ विज्ञान सम्मत भी है। विरोध के स्वीकार और विरोध के परिहार का यह अनूठा सिद्धान्त

जैन परम्परा की विश्व संस्कृति को एक अमूल्य देन है। अनेकान्त के अनुसार प्रत्येक वस्तु द्वय रूप से नित्य होने पर भी पर्याय रूप से असंख्य परिवर्तन प्राप्त करती है। उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य तीनों एक साथ होते हैं। उत्पाद और व्यय का एक साथ होना आत्म-विरोधी नहीं, क्योंकि अनंत धर्मात्मक होने से एक पक्ष या अंत में उत्पाद और दूसरे पक्ष या अंत में व्यय हो सकता है। अतः कोई भी पदार्थ न तो पूर्णतः स्थाई है और न पूर्णतः क्षणिक।

अनेकांतवाद का आधार लेकर जैनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता समन्वयात्मक दृष्टि है। इसमें उपनिषदों का नित्यवाद और बौद्धों का क्षणिकवाद, चार्वाक का जड़वाद और वेदांत के अध्यात्मवाद का सुन्दर समन्वय मिला है। इसमें एकतत्त्ववाद, द्वितत्त्ववाद और बहुतत्त्ववाद के विरोधी वादों का सामंजस्यपूर्ण समाधान एवं समीकरण मिल जाता है। विरोधी वादों के स्वरूप की सुरक्षा कर, उनके पारस्परिक विरोध का परिहार कर उन्हें सह अस्तित्व की एक भूमिका में लाकर खड़ा कर देना अनेकांतवादी दृष्टि की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

अनेकान्तता वस्तुतः किसी पदार्थ की अनंतधर्मात्मकता का भान है। इस सिद्धान्त को समझाते हुए जैन आचार्य छह अंधे और एक हाथी वाली कहावत को प्रस्तुत करते हैं। अज्ञानग्रस्त मानव अंध व्यक्ति की तरह अल्पज्ञता के कारण वस्तु की समग्रता को नहीं देख सकते हैं और उसकी संपूर्णता का ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते हैं। अतः वे केवल अपनी दृष्टि को ही एक मात्र और संपूर्ण सत्य मान बैठते हैं। इसी से दुराग्रह हठ तथा धर्मान्धता उत्पन्न होती है। यही परस्पर विग्रह का कारण बन जाता है और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में बाधक बन बैठता है। विश्व की समस्याओं का मूल कारण यह अज्ञानजनित एकांतवादी दृष्टि है। मुक्त और सर्वज्ञ पुरुष ही पदार्थ की सर्वांगीणता का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। बुद्धजीव का ज्ञान एवं उसकी अभिव्यक्ति एकांगी होती है, अतः उसे 'स्याद्' शब्द का प्रयोग कर यह स्पष्ट करना चाहिए कि किस विशेष दृष्टि और संदर्भ से उस कथन का प्रयोग कर रहा है। इसी को स्याद्वाद कहते हैं जो अनेकांतवाद का एक रूप है। स्याद्वादी जब वस्तु के अस्तित्व को व्यक्त करता है तो केवल 'अस्ति' न कहकर 'स्यादस्ति' कहता है। इससे वस्तु में अन्य पक्षों से विद्यमान 'नास्तित्व' का निषेध न होकर भी एक पक्ष विशेष से अस्तित्व का विधान हो जाता है। प्रत्येक वस्तु निज रूप से सत्ता है तो पर रूप से असत्ता भी है। उसमें स्वभाव है तो अन्योन्याभाव भी है। 'घट घट है' यह उतना ही सत्य है जितना घट पट नहीं है। स्याद्वाद इसी सापेक्षता को व्यक्त करने का एक विधान है।

अनेकांतवाद के वैचारिक सिद्धान्त की परिणति आचार के क्षेत्र में अहिंसा एवं अपरिग्रह के सिद्धान्तों में होती है। अहिंसा का सिद्धान्त जैन मत की विश्व संस्कृति को एक विशिष्ट देन है। यद्यपि यह सिद्धान्त विश्व के अनेक धर्मों में प्रतिपादित किया गया है लेकिन जितनी महत्ता से इसकी प्रस्तुति एवं जितनी दृढ़ता से इसका पालन जैन मत में हुआ है उतना अन्यत्र नहीं। अहिंसा परमो धर्मः जैन मत का मूलमंत्र है। इसमें वर्गभेद को मिटाकर साम्यदृष्टि मानव

की सीमा को लाँघ कर जीव मात्र ही नहीं वरन अजीव तत्त्व तक पहुंचती है और परिग्रह के रूप में उभर कर प्रकृति के साथ सामंजस्य तथा यथोचित रूप में प्रकृति का उपभोग करने को प्रेरित करती है। जैन मत का 'जीओ और जीने दो' का सिद्धान्त मात्र जीव हिंसा के निवारण तक ही नहीं रुकता है वरन अपरिग्रह के रूप में प्रकृति की हिंसा को भी निषिद्ध मानता है। जैन शास्त्रों का उपदेश है कि जिस तरह मुझे दुःख प्रिय नहीं है उसी प्रकार संसार के अन्य प्राणियों को भी दुःख अच्छा नहीं लगता, ऐसा समझकर जो व्यक्ति न हिंसा करता है, न करवाता है और न किसी प्रकार की हिंसा का अनुमोदन करता है तथा समस्त विश्व को आत्मवत् मानता है, वही सच्चा श्रमण है। अतः जैन मत का आदेश है कि सभी जीवों को अपने समान समझकर किसी भी प्राणी, भूत, जीव तथा सत्त्व को मत मारो, अधीनस्थ मत करो, पीड़ा मत पहुंचाओ। न किसी को संताप दो और न किसी को उद्विग्न करो। ये उदात्त विचार अनेकांतवादी दृष्टि से ही फलित हो सकते हैं।

जैन विचारकों का यह दृढ़ विश्वास है कि आत्मा स्वभाव से ही अहिंसक है। अतः सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् चारित्र्य द्वारा विश्व को अहिंसामय बनाया जा सकता है। सम्यक् दृष्टि से तात्पर्य है, 'जिन' प्रदर्शित उपदेशों में श्रद्धा बिना ज्ञान का मूल्य नहीं है और न बिना श्रद्धा ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। सद् विचार की दृढ़ता या स्थिरता ही श्रद्धा है। श्रद्धा में विवेक है, अंधविश्वास नहीं। सम्यक् दृष्टि से ही अनेकांतवादी सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान का परिपाक चारित्र्य है। जिस ज्ञान का चरित्र निर्माण में उपयोग नहीं, वह सम्यक् ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। ज्ञान के सिद्धान्तों को यदि जीवन में नहीं उतारा जाए, व्यवहार में उनका आचरण नहीं किया जाए तो वे व्यर्थ हैं। यही अनेकांतवाद का अमोघ मंत्र है।

जैन मत का विश्व को यह अनेकांतवादी संदेश है कि जो विचार आचार का मार्ग 'जिन' तीर्थकरों ने प्रदर्शित किया है वही वे अपने-अपने देश, काल, परिस्थिति एवं स्वभाव के अनुरूप अपनावें। इसी से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' एवं 'विश्व बंधुत्व' की भावना चरितार्थ हो सकती है। इसी से संपूर्ण विश्व अहिंसामय बनकर परस्पर मैत्री एवं करुणा, प्रेम एवं क्षमा का सुरम्य स्थल बन सकता है। परस्पर विग्रह अज्ञानवश हो सकता है पर इसके लिए जैन मत में पयुर्षण का विधान है जिसमें भूल एवं दोष के लिए क्षमायाचना करने का और उससे निवृत्ति मार्ग बताया गया है। क्षमायाचना करते हुए स्वीकारोक्ति करनी होती है कि मैं सब जीवों से क्षमा याचना करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। समस्त जीवों के प्रति मैं मैत्रीभाव रखता हूँ। किसी के प्रति मेरा वैर नहीं है। जैन मत का विचार-आचार का यह भव्य सिद्धान्त किसी एक देश या जाति के लिए ही नहीं, समस्त विश्व के लिए उपयोगी है।

एम/पी-23 मोर्य इन्कलेव
प्रीतमपुरा, दिल्ली- 110 054

महावीर का अनेकांत : कुछ पक्ष, कुछ प्रश्न

— प्रो. गोपाल भारद्वाज, जोधपुर

“अहिंसा, तप, त्याग तत्पर
साधक, शोधक तीर्थकर”

महावीर पर

सारतः

कभी मैंने यों सोचा था, कहा था

व्यक्तित्व के विलक्षण विशेषकों को यों गुना-गहा था

महावीर से जब-तब बनने वाली भाव-संगति

मुझे कितना कुछ कहती,

कितना अप्रतिम, अनिर्वचनीय सुख देती।

हर ऐसे पुरुषोत्तम की महिमा

क्या बस अपनी-सी एक ही नहीं होती?

तुलना किसी से भी हो सकती हो

पर वैसी ही अभिव्यक्ति पुनः कब हो पाती?

सोचें... कैसा...

महावीर का तन... मन... आत्मन?

चिन्तन.... दर्शन... अनुशासन?

कैसी बनती छवि-

मानो यह भी क्या नहीं एक प्रखर रवि?

कैसा अलौकिक लौकिक जीवन?

कैसा स्वयं का नवसृजन?

नव-नव प्रयोग, प्रतिपादन, प्रवर्तन?

जैन परम्परा के परम सिद्ध

स्वयं संशुद्ध... प्रबुद्ध

परम आह्वान...

भगवन!

उत्तमोत्तम नर—

तीर्थकर!

महावीर का दर्शन... विज्ञान

इसी में अनेकांत

एक अर्थवान अवदान

मौलिक योगदान।

वेद-वेदांत की परम्परा

यदि थी अपौरुषेय ईश्वरा

जैन ने इसे यों न स्वीकारा

कर दिया परिवर्तन इसमें क्रांतिकरा

संभव कि मनुष्य ही

स्वधर्म— स्वकर्म से

देवतुल्य हो जाए

पौरुषेय प्रतिभा ही ईश्वरीय नाम पाए।

यदि थे वेद-वेदान्त कथन

एकवचन- द्विवचन- बहुवचन

एकमेव ब्रह्म-केन्द्रित, आत्मा-केन्द्रित

“एको ब्रह्म, द्वितियो नास्ति”

या कि—

ब्रह्म भी, जगत भी

ब्रह्म भी, माया भी
पुरुष-प्रकृतिरूपी
“पूर्ण मिदं: पूर्ण मिदं” यही

या यों भी—
“एको सत्य विप्र बहुधा वदंति”
तथा, उपनिषदीय कथन—
“यहां सभी से पहले वह था
एक मात्र ब्रह्म... आत्मन
अन्य नहीं था कुछ, किंचित
नहीं अन्य था चेष्टारत
इसी परम ने सोचा... क्यों न—
लोकों का मैं करूं सृजन”
(हो जाऊं मैं बहुवचन)

“सबसे पहले मात्र ब्रह्म था
एक-एक कर यही
एक से सर्व हुआ
अनेक हुआ”
“एक वही—
अनेक बन वह विद्यमान है सबमें ही”।

प्रचलित थे मतवाद कई
और इन्हीं में कितने ही
तेरे-मेरे घेरे में थे बंटे, परस्पर प्रतिरोधी
एकांगी दावे, या कि आश्वासन मिथ्या भी,

अस्तित्व कैसा?
कैसे थे प्रश्न सनातन?
जिनकी चर्चा पर आधारित-
दर्शन... विज्ञान?
महावीर को मान्य नहीं था
“यह” था “वह” कोई एकवचन
व्यर्थ वाद-विवाद और खंडन-मंडन
आक्षेप अन्य पर तथा स्वयं का अभिवंदन
पर जो था एकवचन, द्विवचन, बहुवचन
महावीर ने क्रांतदृष्टि से
किया इन्हीं का संशोधन
समन्वय व नव्यसृजन
अनेकांत नाम देकर एक नवदर्शन, एक नवविज्ञान

क्या है यह अनेकांत?
महावीर के सम्मुख भी था प्रश्न—
जगत का मूल एक है या अनेक?
वेदांत दृष्टि अद्वैत की
ब्रह्मकेन्द्रित, आत्मकेन्द्रित, चेतनाकेन्द्रित
सांख्य की दृष्टि द्वैतवादी
जगत के मूल दो
प्रकृति व पुरुष जो
प्रकृति अचेतन - पुरुष चेतन
पर महावीर ने कहा—
अस्तित्व तो एक ही
उसमें अचेतन-चेतन का भेद नहीं
महावीर की दृष्टि एक नयी अद्वैतमयी
पर गुण व क्रिया के जो लक्षण, विभेदन
इन्हीं पर जो आधारित महावीर का द्वैत प्रतिपादन
यों विश्व का मूल एक भी, अनेक भी
एकता भी मौलिक, अनेकता भी मौलिक
अनंत परमाणु, अनंत आत्माएं
वस्तुतः अस्तित्व जो अनंत-अनंत
वही तो अनेकांत ।

अनेकांत की परिभाषा
जो केवल एक दृष्टिरूप न हो
ऐसी अनेक धर्मात्मक वस्तु की स्वीकृति
सापेक्ष रूप से
एक पदार्थ के अनेक धर्मों में से
अमुक धर्म को कहने वाली वचन-पद्धति

अनेकांत का अर्थ है—
प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक आत्मा
अनंत-अनंत गुणों से संयुक्त है
अनंत शक्ति से सम्पन्न है
अनेकांत वस्तु को अनंत दृष्टिकोण से देखना है
वस्तु को अनेक धर्मात्मक बनाना है
वस्तु के अनंत पर्याय हैं, अनंतकोण हैं, पार्श्व हैं, पक्ष हैं
ऐसी अनंतता अनेकांत है, परम सत्य है।

सापेक्ष दृष्टिकोण से जिन्हें देखा जाता है
सापेक्षता का प्रतीक शब्द ‘स्यात्’ है

“..... स्यात् है”, “..... स्यात् नहीं है”
इसीलिए अनेकांत स्याद्वाद भी है

मूल तत्त्व जितने थे, उतने ही हैं, और उतने ही होंगे
उनमें जो है वह कभी नष्ट नहीं होता
और जो नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं होता
इनमें अत्यंताभाव है
इन्हें हम पर्यायों के माध्यम से जान सकते हैं।

अस्तित्व युगलरूप भी है
सत्-असत्, नित्य-अनित्य, अस्ति-नास्ति, आदि
द्वन्द्व का होना जागकित नियम है
पर युगलों का सहअस्तित्व भी तत्त्व है
विपरीत के बीच एकत्व है
एकत्व में द्वैत है, अनेकत्व है
यही तो अनेकांत है।

अनेकांत की व्याख्या में
जो 'अण्ड' वही 'ब्रह्माण्ड'
जो बूंद, वही सागर
जो दीपक, वही दिवाकर
आज जो अच्छा, वही कल बुरा
कल का बुरा, हो जाए आज सुधरा
जो जीवनदायक, वही विध्वंसक
या कि विध्वंसक ही हो जाए जीवनदायक
गृहस्थ जीवन श्रेष्ठ या साधु जीवन?
संयम के बिना क्या साधु का जीवन!
गृहस्थ भी श्रेष्ठ यदि हो संयम, अनुशासन।

वस्तु के पर्याय भेद हैं
दूध कभी दही भी है
दही का बिलौना किया जाता है
कार्यरत दोनों हाथ
प्रत्येक हाथ—
आगे-पीछे, पीछे-आगे आता-जाता है
इसी क्रम में नवनीत निकल आता है
पद्धति ऐसी ही सत्य-संधान की
या वस्तु को पर्यायों, खंडों में जानने की
आम मीठा भी, पीला भी, मृदु भी, सुगंधित भी

आकार-प्रकार की भिन्नता भी
किस खण्ड को देखा जाए
खंड-खंड अखंडता पाए
वस्तु यों खंड-खंड अखंड है
यों वस्तुबोध भी अनेकांत है।

अनेकांत का आशय
दृष्टिकोण को व्यापक करना है
प्रतिपक्षी दृष्टिकोण को भी परखना है, स्वीकारना है
विचार को पूर्णता देना है
दुराग्रह, कदाग्रह से मुक्त हो
“ही” वादी नहीं, “भी” वादी होना है।

अंतिम सत्य का दावा
या एक मात्र सत्य का दावा
कौन करे!

अनेकांत भला ऐसा दुस्साहसी किसे होने दे!
उदाहरण बड़े रोचक हैं—

मैं एक हूँ या दोनों?
चेतन दृष्टि से मैं एक हूँ
और ज्ञान व दर्शन दृष्टि से दोनों,
मैं शाश्वत हूँ या गतिशील?
कालातीत चेतना में मैं शाश्वत हूँ
और त्रिकाल चेतना में गतिशील।

क्या साधना अरण्य में ही हो सकती है?
साधना गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी
और दोनों में ही नहीं हो सकती,
आत्मा व शरीर का भेद जानने वाला
साधना कहीं भी कर लेगा
और ऐसा भेद न जानने वाला
कहीं भी नहीं कर सकेगा

सोना अच्छा है या जागना?
अधार्मिक का सोना अच्छा है व धार्मिक का
जागना

आलसी होना अच्छा है या क्रियाशील होना?
असंयमी का आलसी होना अच्छा है

व संयमी का क्रियाशील होना?
दुर्बल होना अच्छा है या सबल होना?
अराजक का दुर्बल होना अच्छा है
व अनुशासित का सबल होना

महावीर ने कहा भी है—
अविरोध में विरोध देखने वाला एकचक्षु है
और विरोध में अविरोध देखने वाला अनंतचक्षु
एक नकार है, दूसरा सकार
एक सृष्टिरोधी है, दूसरा सृष्टिशील
महावीर ऐसे ही तो साकार सृष्टिशील
अनंतचक्षु हैं
अनेकांत के प्रस्तोता हैं, प्रयोगकर्ता हैं।

जिसने एक को जाना उसने सब जाना
“जे एगं जाणई ते सव्वं जाणई”
महावीर ने एक से सर्व को जाना
एक में सर्व को पहचाना
एक की सर्वमयता को अनेकांत माना
अद्वैत-द्वैत में न उलझ
रच दिया अनेकांत का
एक नया ताना-बाना।

जो एक वह अनेक
तथा अनेक भी तो एक
ऐसा अनेकांत ही है
राजसिक-सात्विक ज्ञान
विचार-प्रधान यह
और यही कर्म-प्रधान।

शाश्वत जो, वह सामयिक भी
आधारभूत भी, अधुनातन भी
अनेकांत एक दर्शन
अनेकांत एक विज्ञान
शाश्वत रूप सदैव वर्तमान
अनेकांत एक शाश्वत सत्य है
अनेकांत की सामयिक अर्थवत्ता है
अनेकांत की सामयिक प्रयोजनीयता है

क्या जो शाश्वत है उसकी सामयिकता का प्रश्न
उठना चाहिए?

वस्तुतः तो शाश्वत वही है जो सामयिक भी है
सामयिक हुए बिना शाश्वत शाश्वत नहीं है
अनेकांत शाश्वत है, अनेकांत सामयिक है
अनेकांत सिद्धांत है, अनेकांत व्यवहार है
मानवता को मिला एक महत् उपहार है
कैसे हो यह प्रचलित?
जीवन की समग्रता में समाहित?
भाव इसमें क्या-क्या निहित?

जीओ और जीने दो
विविधता का आदर करो
समता, सहिष्णुता, संतुलन
शांतिमय, सुखमय, समरस, सहजीवन
अहंरहित, आतंकरहित परस्परावलंबन
विनययुक्त, विवेकयुक्त दर्शन
सुलक्षित, संबोधित, विज्ञान
वस्तु की अखंड सत्ता का आकलन
खंड के माध्यम से अखंड का निर्वचन
संवादी, सापेक्षी सत्यसंधान
संदर्भ सुबोधक समाकलन
आकार-कार्य का हो अंकन
सकार-सुयुक्त सुसंयोजन
अंश-अंश से पूर्ण बोधन
जड़ भी सत्य, सत्य चेतन
होता विपरितो से योगन
सहकार, सहअस्तित्व हो सर्वभावेन
समन्वय के सूत्रों का संस्थापन
सतत हो आत्मालोचन, संस्कारण, संशोधन
अंतर्यात्रा, आत्मोत्थान
सम्यक दृष्टि, संयत चर्या, संयममय जीवन
विकल्पो का प्रचलन
संभव उपयुक्त चयन
अनुकूलन, अनुशासन
वैविध्य घटे क्यों, बढ़े क्यों 'एकसापन'
विविधता में एकता का हो स्तवन
विधेय क्या, निषेध क्या

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001

99

तदनु रूप अनुपालन
 नकार का परिमार्जन, सकार का समर्थन
 व्रतमय हो जीवन, व्रतमय जन आंदोलन
 सृष्टिशील भाव से हो ऋत का निर्वाहन
 प्रकृत-सुसंस्कृत जीवन का अनुशीलन
 व्यक्ति व समाज का हो सुसंगत व्यवस्थापन
 हिंसा, युद्ध, अनाचार से विलगन
 बने न मनुष्य आशाविहीन
 जीवन बने सभी का सहजीवी संगान
 क्यों लगे ये नारे—

“एक राष्ट्र, एक संस्कृति, एक जन”?
 क्यों किन्हीं को बांधे,
 हांके किसी का कठमुल्लापन?
 सुनिश्चित हो अंतिम व्यक्ति का जीवन-यापन
 अनेकांत यों—

सबकी संस्थिति का सम्मान
 एक महत् मानवीय अभियान
 अनेकांत के संदर्भ में गांधी का कथन—
 मैं अद्वैतवादी पर द्वैतवाद का भी करता समर्थन
 परिवर्तनशील संसार, अतः द्वैत असत्य
 पर इसका भी एक रूप, अतः सत्यासत्य
 मैं अनेकांतवादी-स्याद्वादी ।
 भाष्यकार की दृष्टि में मेरी सोच त्रुटिपूर्ण
 पर अनुभव में मेरी ऐसी ही साक्षी
 सात अंधे और हाथी
 किस-किसने क्या बात कही?
 क्या अपनी-अपनी दृष्टि में सही सही?
 और गलत भी?
 महावीर की व्याख्या क्या ऐसी भी नहीं?

अनेकांत कहता—
 अस्तित्व पूर्णतः है परस्पर सहबंधित
 एक को देखो तब दूसरे को छोड़ो मत
 अपनी-अपनी स्थिति में सभी हैं यहां संगत
 अर्थ क्या कि असहमत हों, या कि हों सहमत
 क्रिया होगी तो होगी प्रतिक्रिया यहां निश्चित

सोचें तब रह पाएंगे कैसे यहां सभी जीवित?
 अनेकांत में ही तो इसका है उत्तर निहित ।

व्यक्ति व समाज के बीच संबंध गहरा
 ज्यों बूंद का सागर से, बूंद से सागरा
 पिण्ड का ब्रह्माण्ड से भी ऐसा ही परस्पर
 कहा भी जाता कि—
 कंकड़ भी हिल जाए तो हिल जाती पूरी धरा
 अस्तित्व का सिद्धान्त इतना खरा-खरा
 अच्छा करो, अच्छा होगा; बुरा करो, होगा बुरा

तब क्या प्रश्न ऐसा भी हो सकता है—
 जब अनेकांत ही सत्य है तो
 देव व असुर के बीच विभेद कैसा?
 त्रिगुणों में तमस का परिहार भी क्यों कर हो?

जो जैसा चलता है, चलने दो सभी को
 क्यों चाहा जाए कोई 'ऐसा'— 'वैसा' हो, न हो
 जो नहीं मान्य उसका हो सके कैसे अंत?
 चाहेगा या नहीं ऐसा करना अनेकांत?

मैं कहता — “मैं सत्य हूँ
 पर तू भी झूठ नहीं है”
 क्या अनेकांत का यही तर्क है?
 मैं कहता — “यही सत्य”
 पर तू कहता—“यह सत्य नहीं है”
 क्या अनेकांत में संभव यह भी है?
 जीया जाए तब अनेकांत कैसे व्यवहार में ?

खलील जिब्रान द्वारा लिखी एक कथा
 आस्तिक-नास्तिक के बीच विवाद हुआ
 सप्ताह भर चला, अनिर्णित रहा
 पर आठवें दिन प्रातः यह क्या था घटा
 अपने सब शस्त्रों को जला
 आस्तिक उसमें जल मरा
 और नास्तिक मरा पाया गया—

मंदिर में, मूर्ति के चरणों में शीश धरा
अनेकांत की इसकी होगी व्याख्या क्या?

अनेकांत में, यह भी संभव कि
पात्र को आधा भरा या आधा खाली कहा जाए
सूर्य की निन्दाएं जब यों भी होती हों—
अभागा, कभी छुट्टी नहीं पाता
बेचारा, रोज जन्मता — रोज मरता
निर्जीव होते हुए भी इतनी आग उगलता
किसी बड़े अपराध का दंड भुगतता...
तब अनेकांत में
ऐसी दृष्टि, ऐसी मनोवृत्ति का क्या हो?

विचार में जो अनेकांत
व्यवहार में क्या वहीं नहीं अहिंसा, अणुव्रत ?

पर कसौटी पर होगा नहीं अनेकांत?
क्या यह संभव कि मान्य हो हर मत?
कैसे हो विभेद कि क्या सही, क्या गलत?
कौन करे निर्णय कि क्या उचित-अनुचित?

सभी मतों का हो इसमें यदि समाहार
क्यों कर बन सके इतना उदार व्यवहार?
होगा तब कैसे व्यवस्था का संचालन?
अमान्य भी मान्य तो कैसे फिर अनुशासन?
दर्शन तो आसुरी भी बन ही जाता है
ज्यों लोक कथन—

“करो पाप-खाओ धाप
करो धरम — फूटे करम”
कहते हैं कि भारत में (या कि नहीं विश्व भर में)
“जो भी सत्य, इसका उलटा भी—
वैसा ही सत्य बन जाता है”
अनेकांत कैसे तब इससे बचा पाता है?

अनेकांत के नाम पर क्या अमानवीय कृत्य-
नहीं जो हो जाना चाहेगा प्रचलित?
अपराध भी क्या नहीं हो जाना चाहेगा—
यथावत अधिकृत?
कैसे हो अनेकांत का सब इस तरह प्रयोग
हो न सके इसका अवांछित दुरुपयोग?

अतः अनेकांत क्या—
नीति निरत नहीं?

उदार चरित नहीं?
सुसंस्कृत प्रकृति नहीं?
सर्वमयी कृति नहीं?
मानवीय आस्था नहीं?
विश्वक व्यवस्था नहीं?

यदि अनेकांत नहीं शुद्ध शोधन, संसाधन
तो फिर कैसे यह—
दर्शन-संज्ञान
प्रज्ञान-विज्ञान
जीवन का प्रावधान
बिना इसके कैसे चल पाए जीवन?

तृतीय-3, विश्वविद्यालय मार्ग,
जोधपुर-342 011 (राजस्थान)

लोकार्पण : आवश्यक निर्युक्ति (भाग-1) का

'आवश्यक' जैन साधना पद्धति का प्रायोगिक आध्यात्मिक अनुष्ठान है। इसके द्वारा साधक अपने दोषों का पर्यालोचन कर परिमार्जन करने का प्रयत्न करता है। श्रावक एवं साधु के लिए यह अवश्य करणीय है अतः इसका नाम आवश्यक पड़ा।

आवश्यक सूत्र पर सर्वप्रथम व्याख्या निर्युक्ति है, जो आचार्य भद्रबाहु द्वारा प्राकृत भाषा में पद्यबद्ध रचित है। आवश्यक निर्युक्ति के वैशिष्ट्य को इस बात से जाना जा सकता है कि इस पर परवर्ती आचार्यों ने सर्वाधिक व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं।

जैन विश्वभारती संस्थान द्वारा प्रकाशित आवश्यक निर्युक्ति का प्रथम भाग समणी कुसुमप्रज्ञाजी द्वारा सम्पादित हुआ है। इस ग्रंथ का सम्पादन अत्यन्त जटिल कार्य था, क्योंकि एक ही गाथा को किसी व्याख्याकार ने निर्युक्ति गाथा के रूप में अंगीकार किया है, तो किसी ने भाष्यगाथा के रूप में। किसी व्याख्याकार ने प्रक्षिप्त या अन्यकर्तृकी माना है तो अन्य व्याख्याकार ने गाथा का संकेत ही नहीं किया। समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने गाथाओं के पूर्वापर की समीक्षा करके समालोचनात्मक टिप्पणियां लिखी हैं। टीकाओं के साथ प्रकाशित निर्युक्तियों में सामायिक निर्युक्ति की लगभग 1055 गाथाएं मिलती हैं, लेकिन समणी कुसुमप्रज्ञा ने तर्क सम्मत अनेक गाथाओं को प्रक्षिप्त सिद्ध करके 680 गाथाओं को मूल गाथा के रूप में स्वीकार किया है।

हरत प्रतियों से पाठ-सम्पादन अत्यन्त दुरुह कार्य है। उन्होंने इस युग में श्रमपूर्ण सम्पादन का कार्य निष्पन्न किया है। इस ग्रंथ पर उन्हें पी.एच.-डी. की उपाधि मिली है।

अनुवाद देने से इस ग्रंथ का मूल्य और अधिक बढ़ गया है— ग्रंथ के साथ चूड़ा के रूप में पांच परिशिष्ट संलग्न हैं। प्रथम परिशिष्ट में गाथाओं का समीकरण प्रस्तुत है जिससे किसी भी गाथा की टीका खोजने में सुगमता हो सके। दूसरे परिशिष्ट में गाथाओं का पदानुक्रम है। तीसरे परिशिष्ट में सामायिक निर्युक्तिगत लगभग 222 कथाओं का हिन्दी अनुवाद है। कथा के क्षेत्र में काम करने वालों के लिए यह परिशिष्ट अत्यन्त उपयोगी हो सकेगा। चौथे परिशिष्ट में बृहत्कल्प, निशीथ, ओघनिर्युक्ति, मूलाचार आदि ग्रंथों के तुलनात्मक संदर्भ प्रस्तुत हैं।

आचार्य महाप्रज्ञाजी के निर्देशन में चलने वाले आगम यज्ञ में यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण अवदान माना जा सकता है। मुनिश्री दुलहराजजी के उल्लेखनीय सहयोग से अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ है।

समणी कुसुमप्रज्ञा ने अपने समस्त वैदुष्य को आवश्यक निर्युक्ति के संपादन में फलीभूत किया है। उन्होंने गूढ़, नीरस और दुरुह शोधकार्य को अपनी अध्यवसायी चेतना और ज्ञान गम्भीरता से जिस प्रकार सम्पादित किया है, वह अनुसंधान के क्षेत्र में पदचिह्न बनेगा।

ग्रंथ का मुद्रण और साज-सज्जा अत्यन्त आकर्षक है। ऐसे ग्रंथ रत्न का प्रकाशन के जैन विश्वभारती संस्थान गौरव की अनुभूति करता है।

— सम्पादक

Fatless Cream and Decaffeinated Coffee

... a layman's understanding of Anekanta

— Sudhamahi Regunathan

I

I have often found it happening to me that when I learn a new word, I come across it many times soon after. It is the brain's way of pointing out the word and reinforcing the new lesson. In a somewhat similar fashion I have been coming across the idea of Anekanta in whatever I read, experience. May I add that these quotes or experiences are to be understood relative to the discussion and not in terms of the concepts of relativity or polar identity in the different religions, which may differ.

In a lighter vein, in the hotel room in San Rafael, against the open skies and silhouetted mountains I found myself faced with alternatives like cream without fat and decaffeinated coffee. They were opposites that seemed so strange when they co-existed and yet they did! If I could understand and believe that, surely I could believe in the co-existence of opposites!

Recently, I read a book called Tuesdays with Morrie. It is an international bestseller and has been so for some time now. It talks of a man who chances to watch a television programme featuring his dear professor who is now consciously going through the process of dying. Mitch then traces out Morrie, the professor, and while with him reflects on his dreams when he was still a fledgling with his teacher. Mentally he compares it to his life as it has been since. A conversation between the two of them goes like this:

“Have I told you about the tensions of opposites,” he says. (Morrie)

“The tension of opposites?”

“Life is a series of pulls back and forth. You want to do one thing, but are bound to do something else. Something hurts you and yet you know it shouldn't. You take certain things for granted, even when you know you should never take anything for granted. A tension of opposites is like a pull on a rubber band. And most of us live somewhere in the middle.”

I recollected what I had read in Acharya Mahaprajna's words:

“Opposition is a fundamental rule for existence. There is no type of existence in which opposites do not co-exist. In a sense, existence may also be defined as the coming together of opposites. It is the principle of the quest for unity between two apparently different characteristics of a substance. It tries to point out characteristics with differences which have identity also. Reconciliation, which is a principle of Anekantaa comes about only with the recognition of the identity principle.”

This can be looked at in two ways.

At one level is the human interpersonal level. If we are able to recognize that another person can have a difference of opinion and that we both can exist, he with his opinion and I with mine, we would not have any wars. This statement is not as general as it seems.

Look for instance, at the diversity within each religious fold. Religion itself is a means to attain oneness. Today, on the contrary, that it is creating fundamentalists is just one aspect. In its most passive form, we find each religion diversified into many sub-sects and schools. The same sacred texts gives rise to followers who profess different ideologies and so branch out to form new sects. This is because each one has interpreted them differently. And each one thinks his interpretation is the best. A new order is created and a new following grows, thereby defeating the very purpose for which, and the basis on which, the spiritual seer, whoever we might consider, ever propounded his philosophy.

To quote an example given by the Acharya Mahaprajna: when we enter a garden full of flowers, we look at the different flowers and go ecstatic at the diversity in nature, at so many different shapes and sizes and fragrance and even touch. The same people when they have a difference of opinion, are not able to look at this mental diversity as beautiful but only as that which invite conflict.

If we look at the working environment, many of the problems are born out of intolerance, intolerance towards contradictory opinions.

In the Mahabharata there is an episode where a Yaksha questions Yudhishtira. The story goes that Yudhishtira's brothers had gone in search of water and when they did not return in time, the eldest Pandava goes in search of them. He finds them sprawled on the ground, near the pool. They are lying lifeless. He is anguished. As he moves to the pool to take a mouthful of water himself, the Yaksha in the form of a crane stops him and insists that unless he answers his questions, he will not be allowed to drink the water. Among the many questions that are posed to him, one of them is "What is forbearance?" Answers Yudhishtira that forbearance is putting up with opposites. To reconcile opposing forces is in fact what tolerance is made of.

If Yudhishtira defined forbearance in terms of opposites, it is interesting to note that existence itself is defined in terms of opposites.

So Anekantaa is actually a principle that has been accepted widely, either by name or in essence. Anekantaa shows the way. While it is all very simple to say practice tolerance, we all find it extremely difficult to do so. In a sense we do not know where to begin. Anekanta teaches not just the point of beginning, but also the route to take for it helps us envisage infinite possibilities within a single phenomenon. I will let that unfold as the paper proceeds, mentioning just that it advocates the reconciling of opposites and the acceptance of the possibility that truth is ephemeral and at the best of times incomplete.

As an illustration of defining existence through opposites is this beautiful verse from Kamba Ramayana. Kamban was a great Tamil poet of the medieval period who wrote his version of the Ramayana. In the following passage he describes Ayodhya, the land of King Dasaratha and his son Lord Rama.

He says:

Vanmai illai or varumai irumaiyal

Tirumai illai or cerunar inmaiyaal

Unmai illai poi urai ilamaiyaal

Venmai illai palkelvi mevalal

There was no charity for there was none to beg,
Valour was never seen for there was none who dared to challenge
Truth did not stand out, for none did speak a lie
Wisdom did not show, for all were well versed.

Giving a peep into the nature of peace and prosperity that existed in Ayodhya, this verse explains how opposites were in perfect balance. Does that mean that opposites define existence? For charity to exist, non-charity too has to be defined. In simpler words, unless there is darkness how can one define light? Unless there are lies how can one make out the truth, Unless there is foolishness, how to recognize wisdom?

Yet another connected thought flits across the mind. The Natyasastra, the treatise on dramatics enumerates emotions. Emotions of anger, love, hatred, disgust and so on. There are totally eight of them. The ninth one is Santham or peace. Santham is believed to be a later addition to the eight rasas, raising the total count of rasas to nine thereby. Why? Why was that so? Was peace not denied till then? Or did it not need a definition since there existed no opposite to it then?

A beautiful saying of Lao Tzu runs thus: "When all the world understands beauty to be beautiful, then ugliness exists; when all understand goodness to be good, the evil exists." In other words then beauty is relative, relative to ugliness. Goodness is relative to evil. Says Acharya Mahaprajna that the logic of Jain philosophers is: that which is true contains its opposite: *yat sat tat sa pratipaksam*.

Once again I find an example in Taoism from China. Lao Tzu writes:

In order to weaken, one will surely strengthen first. In order to overthrow, one will surely exalt first in order to take one will surely give first

This is called subtle wisdom.

And yet he says when you want to retain something, admit in it something of the opposite:

Be bent and you will remain straight

Be vacant and you will remain full

Be worn and you will remain new.

II

This is actually a beautiful demonstration of the idea of reconciliation embedded in the idea of Anekanta. By accepting the opposites, and thus searching for harmony from within them, we discover the network of inter relatedness that forms the basis of all existence. Harmony is a principle of the search for unity without negating the pre-existent diversity.

In fact, I found particularly interesting that deriving from this line of thought Acharya Mahaprajna describes how we have developed the concept of uselessness. And thereby, why we face an environmental crisis today. Without recognizing the fundamental need and truth of diversified existence, we start labeling some beings as useless or useful. That which does not serve our immediate material purpose, we label as useless and work to remove. We decide it is useless because we look at it from the single perspective of being of direct use to us. We ignore the need for diversity and role of the said object in the larger schema. But just as the innumerable connections in an electronic circuit, every animate being has a role. Our purpose should not be to be the only living beings on earth for that will not work, but recognizing the diversity, to be able to find a natural equation for co-existence and this will come naturally only when we are not quick to judge a being as useless.

Most Indian schools of thought accept that opposites are merely different aspects of the same phenomenon. When the Upanishad says,

It moves, it moves not,
It is far, and it is near,
It is within all this
And it is outside of all this

That too is talking of reconciling opposites. When Buddhists say
At dusk the cock announces dawn;
At midnight, the bright sun.

There too the reference is to a vivid conceptualization of unity in opposites. This haiku fascinates me. The phrase, "At dusk," specifies the time. The crowing of the cock indicates morning. That means it is both dusk and dawn. The next sentence implies it is both dark and light. Looking at it another way, even though it was dusk, it was not since the cock was crowing. Even though it was midnight, it was not, the sun was shining. It was dawn and dusk and neither dawn nor dusk. But what was it if it was neither dawn nor dusk? Neither light nor night?

An endearing concept emerges with the co-existence of yet another pair of opposites. This much as related above is what can be expressed in language. What has not been described is that which actually defies expression: avaktavya or the inexpressible.

This poetic concept excited me. It is like catching a wisp or holding a moonbeam in your hand. It was one moment of exhilaration that research lands on your lap, almost without warning. I was ably supported with a paragraph from Heisenberg who writes:

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001 107

“The most difficult problem... concerning the use of language arises in quantum theory. Here we have at first no simple guide for correlating the mathematical symbols with concept of ordinary language; and the only thing that we know from start is the fact that our common concepts cannot be applied to the structure of the atom.”

Within the atom, the electron has an anti particle called positron. But that is still conceivable because the electron has a certain charge and the positron thus could be called its anti matter because it has an opposite charge. What about the neutron that has neutral charge? Does it too have an anti particle? Writes Richard Feynman, “Every particle in nature has an amplitude to move backwards in time, and, therefore, has an antiparticle... Photons look exactly the same in all respects when they travel backwards in time.... so they are their own anti-particles.” There is an obvious distinction between a particle and its anti-particle if they are charged, because their charges are of opposite sign. The distinction is subtler if the particle and antiparticle are neutral, like the neutrino and antineutrino. Nevertheless, there really is a distinction ... the component of intrinsic spin angular momentum along the direction of motion is always negative for a neutrino and positive for an antineutrino.”

III

Even within the world of science, the question has cropped up asking whether this is a real distinction or a perceived one. For the anti nature of the particle, in the absence of different charges, in effect, depends on the direction of the motion, but is direction an inherent property of the particle? While some people maintain that the ambiguity exists, others give reconciliatory solutions. I emphasize the fact that within the world of science too a question about real and subjective has been posed because a criticism against Anekanta is that it may be a subjective philosophy. Why? Because it takes into account the real and the unreal world in all its arguments in its theory of knowledge and places a great deal of emphasis on ‘experience. The Jaina philosopher maintains that existents are possessed of an infinite number of attributes and characteristics, which can be discovered by experience alone. Even the primal attribute of existence, which is the foundational element of the nature of an entity, is not capable of being ascertained by a *priori* logical considerations. Our knowledge of things and of their relations starts from experience, and reason can at best serve to organize the experienced data and build a system of thought, the elements of which together with

their relations, must be ultimately derived from this fundamental source of knowledge, in other words from direct acquaintance furnished by observation.

Without going further into the Jaina theory of knowledge, I will go back to the avaktavya and strangely resort to the atom particles to make it clear.

Heisenberg conducted an experiment with a box with a partition in centre. The partition has a hole. Logically, one would say that the atom would either be in compartment 1 of the box or in compartment 2. But according to quantum physics, the atom could be both in compartment 1 and 2 because the atom exhibits both a wave aspect and a particle aspect.

How to express strange phenomena that occur in different combinations? Combinations that result in conclusions which have only a certain amount of certitude and even less doubt. Conclusions, that fall between two ends of the scale of certainty and uncertainty. The path breaking contribution of Anekanta was to accommodate infinite possibilities that lie between these two ends, with the two ends being inclusive. In fact Aneka means many and anta means attributes. In terms of opposites it can also be defined as the doctrine of non-absolutism. According to anekanta, all objects are multiform and from their many sided nature follows the conclusion that all judgements are relative.

Indian philosophical thought has always been accommodative. It has believed, no matter through which religion, that the approaches towards the whole truth, Brahman or the Absolute, can be many.

Philosophical thoughts in India swing between the pendulum of absolute permanence and absolute impermanence. The insentient elements (prakriti) according to Sankhya, is permanent cum transitory, but the sentient element, purusa is absolutely permanent. According to Vaisesika philosophy, the earth is permanent as a cause and transitory as effect, but soul, God and space are without any modification. Reality is momentary according to the Buddhists, whatever is real is momentary, just as the cloud. The Buddhists are fluxists and totally reject the concept of eternity. In Vedanta, Brahman is absolute and unchangeable, permanent and the changeable world is maya or absolute impermanence. Brahman is beyond reality.

According to Jainism, no absolute predication about a thing is possible. Reality does not admit of absolute predication, but is characterized by appearance and non-appearance in the midst of

permanence. One can neither speak of absolutely unchanging permanence nor of absolute change without permanence. The reality, however, maintains identity and permanence though it expresses itself in multiple forms. So Anekanta, which forms the foundation of all thought in Jain philosophy and from which the general theory of a pluralistic universe has emerged, is unity in multiplicity.

To go back a little in time, we find ourselves in the 6th century BC. Scholars have called this period the period of second urbanization. This period comes after the first urbanization that is dated to the Indus Valley civilization and the intervening Dark Ages that is timed between 1750 BC and 700-600 BC. It is said that in the first period of Urbanization the third primary center was the ancient Indus Valley civilization. When they became extinct due to many and complex reasons, there came a period that does not seem to boast of any intellectual development. Around 700-600 BC., the whole world was in what is termed as an intellectual turmoil. Socrates in Greece, Zoroaster in Persia, Confucius in China were some of the major intellectual thinkers. But to take the case of India alone, this period is recorded as one where thinkers were wanting earnestly to explore newer avenues for understanding the mystery of man and the universe. Of course, the three major schools were the Vedantists, the Buddhists and the Jainas.

Lord Mahavira was the Jain seer who is considered to be the last of the 24 Thirthankaras and lived in the latter part of the sixth century BC. (599-527 BC). The first Jain Tirthankara is believed to be Lord Rishabha. The corpus of Jain canonical literature is called the Agamas. Here, the word Anekanta is, according to Acharya Mahaprajna, not mentioned.

Anekanta has emerged from two forms: perspective and substantial. The vision that understands one change of matter is a perspective and that which comprehends infinite contradictory changes in matter is the substantial. In Jain philosophy the branch of perspective knowledge grew first and that of substantial knowledge developed later. In the times of Bhagwan Mahavir, it was the perspective school that was popular.

Anekanta also called *syadvad* where *syat* is a cautionary prefix which means that from one perspective. Or from one point of view. *Vad* could be understood as assertion of possibilities or discussion. To make the definition more concise, *syad* is a term used to indicate relativity. Some scholars say that *Syadvad* is first mentioned by that name in Bhardrabahu's writings. There were two authors by the same name, one belonging to 433-357 BC. and the other belonging to about 375 BC.

Generally the credit is given to the senior Bhardrabahu. It is only with Siddhesena Divakara (480-500 AD) that *syadvad* became well known and subsequently, approximately 1200 years after Mahavira, the seven parts of *syadvada* were laid bare by Samantabhadra. At and after this time, the *saptabhangi* naya was discussed in quite a few forums and texts.

Saptabhangi mean the seven alternatives. While an object may have infinite attributes, the permutations in which the attributes may exist have been narrowed down to seven by Jain philosophers.

1. The first says from a certain perspective, it is: syadasti
2. The second says from a certain perspective, it is not: syatnasti
3. The third says from a certain perspective, it is and it is not: syadasti nasti ca
4. The fourth says from a certain perspective, it is inexpressible: syad avaktavyah.
5. The fifth says from a certain perspective, it is and inexpressible: syadasti ca avaktavyasca
6. The sixth says from a certain perspective, it is not and is also inexpressible: syatnasti ca avaktavyasca.
7. The seventh says from a certain perspective, it is and is not and is also inexpressible: Syadnasti ca avaktavyasca.

Avaktavya has been translated as indeterminate. But it is an idea subtler than that. It may be determined in the mind, it still does not find expression: that is avaktavya.

The fact that a positive and negative predication may be made about the same thing is called *asti-nasti*. The Jainas have enumerated five *astikayas* or real substances that have both the permanent and the impermanent in them. They are ether, non-ether, space, matter and soul. It is in this context that the smallest particle has been defined as the atom and even the anti particle has found mention.

Acharya Mahaprajna uses the phrase that all world's a stage and the actor, he says is matter. For matter has three-dimensional attributes: permanence, origination and destruction. The origination and destruction together comprise the change that comes about in matter. Says Acharya Mahaprajna that what we see in this world of matter are actually the changes. The permanent matter is not visible.

Jain philosophy has interpreted the world through the perspective of the substance (*dravyarthik*) and through the perspective of modes (*Paryayarthik*). When we look at the world as undivided, then we see matter before us. Neem, house, man, animal are some form of matter before us. When we look at the world through the perspectives of

difference, then matter becomes hidden. We are faced with change and change, modification and modification! What is man? Man is not just matter. Where is man? Search the world over and you would not find any substance called man. Man is a change. Matter is not a substance, it is also the result of a change. All the objects we see in this world, they are all results of changes. We are seeing the changes, matter does not appear before us. It is hidden from our eyes. This truth is best expressed in Acharya Hemchandra's words:

If we go along the direction of unity or non-difference, then the modification will be hidden and what we will see is matter. Our world would become very small. Gradually it will become zero or empty. If we go along the path of differences, then substance will get hidden and what will emerge are the changes. Our world would become very large. Difference will swallow similarity and there will be only a larger and larger world.

As a conclusion to my understanding of Anekanta, I present a recent scientific finding. According to the latest genome research, all human races are 99.99 per cent alike. What makes me different from anybody else in the room, is the change that has happened in the .01 per cent of the gene. In fact then what we are seeing as different human beings, with different creed, colour, religion are all only expressions of changes in matter, which is 99.99 per cent alike!

If that is not humbling enough, here is another finding: humans have 30,000 genes, thrice the number as in houseflies and five times as many as in a bacteria. Not only are the numbers similar, the genes themselves, barring a few are similar! Research actually says 2000 my ago, men and mice may have originated from the same ancestor! Scientists say that the changes in man in different parts of the world are his responses and adjustments to the environment. So in effect when you see me, I am actually just a changed manifestation of any one of you.

Till recently anekanta was viewed as the gateway to non-violence, and tolerance because it makes room for contradictory opinions and views to live together amicably and with equal respect. Sarva dharma sad bhavam is an anekantic view. Today genome research has further enhanced the scope of understanding anekanta: if all men are just manifestations of changes, what is there to fight over?

Vice-Chancellor
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun- 341 306 (Rajasthan)

Anekānta — A Jaina Contribution to Scholastic Methodology

— M.R. Gelra

The beginning of Jaina monastic learning and scholarship originated and developed from the needs of transmitting and handing down to pupils the explanations of the sacred scriptures of Jainism. The teachings of Mahavira were first transmitted orally from one generation to another and later on they were reduced to writing in the Prakrit language in archaic style which was popular two thousand years ago. Jain Acharayas, with a view, to providing a scientific justification to the old inherited literature gave special emphasis on methodology establishing the distinctive trait of Jaina Scholasticism. They evolved quite a number of different systems of interpretative tools to explain the legitimacy of the traditions as mentioned in the canonical texts. Philosophically, the most scientific and efficacious part of the methodology is the theory of non-absolutism i.e. Anekāntavāda. During the formative period of Anekāntavāda there were two prominent rival schools of thought in India. The Vedānta used to describe the reality i.e. the substance or dravya alone as ultimately true whereas the Buddhist phenomenalism accepted the modes of substance as an ultimate truth. Jaina appropriated them both and accepted according to Jaina Logic (Anekānta) both the substance and the various modes ultimately true. This is how the doctrine of Anekānta became the central thesis of Jain Philosophical thinking.

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001 113

Anekāntavād simply means viewing the Reality or Truth in its diverse aspects. It promotes a many sided approach to the problem of knowledge of Reality. Each object of knowledge is found to be endowed with infinite attributes. Some of them appear to be mutually contradictory but they do coexist in the same object, this is the intrinsic nature of Reality. So the knowledge of the true nature of every object should be viewed from different angles. Thinkers having a singular view in mind can see only one facet of Reality and cannot realise Reality in full. Hermann Jacobi, the German Indologist has pointed out that Anekānta opens the floodgates to the comprehension of Reality not only in toto but also in its different aspects.

Anekānta unfolds its vision through Syādvād. There is an important relation between Anekāntavād and Syādvāda, they are synonymous. Anekānta relates with the relative part of infinite knowledge, Syādvād relates to its verbal expression; which is always finite. Historically, it is assumed that Syādvād or the system of Saptabhaṅgī is a later development in Jainism, but the doctrine of Anekāntavād, the first and the most fundamental teaching of Mahavira seems to precede Syādvād in time. Syādvād is the synthetic method of knowledge and insists on making the statements conditionally keeping in mind a certain context. Looking to the criticism of the word áSyatâ in Syādvād or Saptabhaṅgī from certain corners, Acharya Mahaprajña has emphasized¹ on the use of the term áevaâ in the seven usual propositions for the popular example of pot which indicates the definite character of the assertion, or the negation or indescribability or their possible combinations. He further stresses on the use of 'Syât' for the rest of the attributes other than existence in the pot. Acharya Mahaprajña has certainly given a new dimension in Jain logic to prevent any controversy regarding the doctrine of Anekāntavād.

Anekānta is supported by the independent system of Nayavāda, the seven possible modes of approach and description, one of which is singled out without regard to the others according to the need and purpose of the case. It implies that the real truth may be explained and examined from divergent view points. These divergent viewpoints present a comprehensive and synoptic picture of Reality. It is an analytical method. The Jainas narrate a story to tell of the seven blind men and the elephant. All the blind men surrounded the elephant and touched its body. Somebody got the ear of the elephant, and others got trunk or tail or any other part of the body. The person who caught the leg of the elephant said that elephant was like a pillar and who caught the trunk, said that the

elephant was like a python and in this way every blind man asserted that his description alone was correct. Jaina says 'Only who can see the whole elephant can say the truth'. So each standpoint according to Jaina is relatively true. Einstein's theory of relativity and Heisenberg's theory of Uncertainty are in tune with Jain doctrine of Anekānta.

In the beginning of nineteenth century, French Scientist Laplace established the doctrine of scientific determinism on the lines of Newton Laws and argued that there should be a set of scientific laws that would predict everything which is happening in the universe including the human behaviour, if only we know the complete state of universe at one time.

With the advent of Law of Uncertainty in 1926 by Heisenberg, it signaled an end of Laplace's dream of the Universe that could be completed deterministic, because one cannot measure the present state of the universe precisely! To measure the present state of position and velocity of a particle accurately, the obvious way is to shine light on the particle. The use of quantum of in the observation disturbs the particle and changes its velocity in a way that cannot be predicted. Moreover the more accurately one measure the position of by the particle, the less accurately one can measure velocity and vice-versa. Stephen Hawking has pointed out that Uncertainty Principle is fundamental, inescapable property of the world.

Similar to uncertainty Principle, Anekānta argues that the rational knowledge that occurs at the sensual level always requires some medium i.e. carrier of waves or energy. For example, if same object is to be seen by an eye, a ray of light i.e. quantum of energy is required. Other senses of the body also require the support of same waves for cognition of an object. It seems, therefore, that the cognition at the sensual level disturbs the position of the object i.e. the object i.e. the object changes its paryāya. Hence it is correct to say that the same object does not exist in its present state when the cognition occurs. This uncertainty of cognition leads to Unpredictability. Jaina's have, therefore, termed the sensory knowledge as indirect knowledge. The indirect knowledge, Jaina's believe can be transmitted through a system of Saptabhaṅgī which deals with the Existence, Non-existence and unpredictability while describing an event, the theory of sapatbhaṅgī makes reference is terms of not only substance (dravya) but also with area (kshetra), time (kāla) and attribute (bhāva)

The quantum mechanics has gone a step further to suggest that the uncertainty in the position and velocity of particle should be viewed as a

combination of both that is to say that quantum mechanics does not predict a single definite result for an observation. Instead, it predicts a number of different possible outcomes and introduces a probability factor.

Quantum Mechanics has given similar treatment in case of the duality of waves and particles.

Jain's have believed in two tier system of knowledge.

- (i) Sensory i.e. indirect knowledge
- (ii) Intuition i.e. direct knowledge or super sensory

In case of direct knowledge, no carrier of energy is required for cognition. So the cognition occurs without disturbing the present state of the object. Such knowledge is pure and absolute. It is interesting to note that Anekānta is applicable only in case of sensory knowledge.

Besides the Anekāntavād, Nayavād and Syadvād, the general method of approaching a subject is further systematized in the form of the four Anuyogdvarās, the tribhaṅga, the caturbhaṅga and the nikṣepa (nāma, sthāpanā, dravya and bhāva). It is of special interest that these various methodologies sometimes have nothing to do with the text to be explained but the inclusion of which in the teaching programme seemed essential or desirable to make the instruction richer and more rewarding for, teachers and pupils. It is therefore said that Jain Acharyas were the best teachers, they could apply various methods and techniques in explaining the contents of the scriptures to the pupils. These methods have helped in understanding the difficult and imperfectly explored texts with their old commentaries, the cūrṇis, the Nirvyuktis. Prof. ALSDORF, has said 'there is no exaggeration if it is said that most of the original Jain contributions to Indian scholarship were made in the field of methodology. Dr. A.N. Upadhyaya says the approach to reality adopted by Anekāntavād strikes an original note in the history of Indian logic'. At the same time except the Anekānta and Syādvad, the rest of methodologies had apparently reached the possible limits of its development and gradually fell into disuse.

The history of the beginning of Jain Philosophy can be traced to its oldest canonical texts the Ācārāṅga Āgam². From the very first sentences of the Ācārāṅga, it is clear that the migration of soul is accepted and it is mentioned that one who accepts this migration of soul is Ātmavādī, Lokvādī, Karmavādī and Kriyāvādī. It shows that Jain philosophy starts

with its fundamental principle of soul and its transmigration in space (Loka) due to the activity (kriyā) of karma. The ultimate goal of Jaināās are to liberate the soul from karmic bondage.

Jain philosophy proposes the theory of kriyāvād, making it clear that jainas are not Nāstikvādi. Jain philosophy according to Ācārāᅅga Sūtra, conceives two real entities in this Loka (universe), the living beings (soul or citta) and the matter (non soul or acitta). These two entities do not transform to each other, though they exist together in the universe. The limitation of this concept is that the soul and karma co-exist from the very beginning of time in this universe (loka) and the spiritual soul and material karma are eternal.

It is interesting to correlate this limitation of Jainas concept about universe and time with the modern theoretical physics. 'Einstein's famous question about whether God had any choice in creating the universe? Hawking the renowned physicist's says A universe with no edge in space, no beginning or end in time, and nothing for a creator to do³.

The principle of Anekānta has been successfully applied in the relationship of the body and soul. Jainas believe that substance is permanent but its modes are changeable. Soul is permanent but its modes, the body of a living being is changeable. Jain again narrates a dialogue which took place in between Lord Mahavira and his first disciple Gāutama. It was initiated as follows

Gautama : 'Is the soul permanent or impermanent, O Lord?'

Lord : The soul is permanent in some respect and impermanent in another respect.

It is permanent in respect of its substance (which is eternal) and it is impermanent in respect of modes which originate and vanish.

Tattvārtha Sutra⁴ of Umaswati provides the definition of the Reality as follows:

Utpād-Vyaya-dhrauvya-yuktam — 'Sat' i.e. origination, cessation and continuity exists in 'Sat' i.e. Reality. Jainas describe substance as eternal but its modes are changeable. The examples are as follows :

- (i) An earthen pot exists at one time permanent till it is unbroken but when the pot breaks into pieces it becomes transitory. However, the sand or the clay of which the pot is made remains unperishable.
- (ii) Gold ornaments can be changed from one form to another but the basic material gold does not perish.

Similarly man is immortal in relation to his soul but mortal in relation to the body.

The extraordinary thoroughness and with remarkable ingenuity the Jain Ācharyas have given foundation to their philosophy by adopting scholastic methodologies.

A saint philosopher of twenty first century Acharya Mahaprajña⁵ could observe the duality of apparently contrary attributes in substance but could find that they enjoy the mutual concomitance. Some of them are as follows:

- (i) Universal and particular
- (ii) Permanent and the impermanent
- (iii) Existence and non-existence
- (iv) Speakable and unspeakable
- (v) Being and non-being

These axioms of Anekāntavād helps us in understanding the philosophy of Jainism.

References:

- (i) The axioms of Non-Absolutism by Acharya Mahaprajña, Facets of Jain Philosophy and Culture.
- (ii) Beginnings of Jaina Philosophy in the Ācāraṅga—Dalsukh. D. Malvania
- (iii) A brief history of Time by S. Hawking : Introduction
- (iv) Tattvārtha Sūtra V.37.

5 Cha-20

Jawahar Nagar, Jaipur

Anekānta

Metaphysico - Spiritual Perspective

— Prof. Kamal Chand Sogani

Anekanta : Metaphysical perspective

It is incontrovertible that metaphysics deals with the problem of reality. Philosophers have endeavoured to expound the world of phenomena in a consistent manner. For Jaina thinkers, reality is constituted of apparent contradictions. So its one-dimensional exposition is not possible. It is an inalienable complex of permanence and change, existence and non-existence, oneness and manyness, universality and particularity etc.¹ Because of this complexity reality is styled 'Anekantic'. It is thus multi-dimensional possessing antagonistic dimensions of permanence and change, one and many etc. These antagonistic dimensions are infinite in number, of which we know only a few of them. Thus the Jaina philosopher differs from all absolutists in their approach to the unfoldment of the inner nature of reality. The Jaina advocates change to be as much ontologically real as permanence. Being implies becoming and vice versa. This conception of reality reminds us of the Greek philosopher Parmenides who regarded 'Being' as the sole reality wholly excludent of all becoming, as also of Heraclitus, for whom, permanence being an illusion, 'Becoming' or perpetual change constitutes the very life of the universe. It also makes us reminiscent of the Buddhistic philosophy of universal flux and of the unchanging, static, permanent absolute of Vedanta. But all these point to the one-sided approach to reality. It may be

said that “if the Upanisadic thinkers found the immutable reality the world of phenomena and plurality, and the Buddha denounced everything as fleeting, Mahāvira found no contradiction between permanence and change, and was free from all absolutism.”²

Problem of reality implies the problem of substance. In consonance with the Anekantic view of reality already discussed substance is characterized by simultaneous origination destruction and persistence or is the substratum of attributes and modes.³ Permanence signifies persistence of substance along with attributes, and change refers to fluctuating modes along with the emergence of the new modes and the disappearance of the old one at one and the same time.⁴ To illustrate, gold as a substance exists with its modification and qualities. Now after making an ornament, gold as a substance is existent along with its attributes and what changes is the mode.

Substance and Quality:

Substance as different from the general and specific qualities and modifications is not worthy of being so called. Things devoid of attributes and modifications are nothing but abstraction. Qualities are incapable of being existent by themselves even for a moment. They necessitate the simultaneous existence of substance, and are denied any isolated character; and they are themselves bereft of qualities.⁵ As regards the relation between them, we may say that they are non-separate and non-identical. Non separateness results owing to their subsistence in the same spatial extent, and non-identity issues because of the fact that one is not the other. The assertion that substance is not quality and that quality is not substance serves only to emphasize the non-identical character of both substance and quality. It does not mean the absolute negation of substance in quality and vice-versa.⁶ Thus the relation between dravya and guṇa (substance and quality) is one of identity-in-difference. The difference between them is only the difference in point of nomenclature, number, characterization, purpose and not difference with reference to spatial extent.⁷

Substance and Modification:

The notion of paryāya is peculiarly Jain. ⁸ In conformity with the nature of substance as permanence in mutability, paryāya alludes to the variable aspect of a thing which is due to the external and internal inducements. Every quality transmutes its state every moment ; and this mode of being is called paryāya which is incessantly transforming itself

into the next, though the quality as such is never abrogated. It is on this account alleged the substance is in a state of perpetual flux. However incessant and infinite the transformations may be, the underlying substantiality and permanency can never part with existence. Substance and paryāya are not to be distinguished like two different things, for it is substance through qualities, which because of its flowing nature attains the qualification of paryāya. Substance of modes are neither exclusively identical nor exclusively different, but the relation is one of identity-in-difference, which is in perfect harmony with the non-absolutistic attitude upheld by the Jaina. Thus origination and destruction are applicable to paryāyas and persistence to qualities along with substance.

Persistence and the distinction between guṇa and paryāya:

The Jaina conception of persistence is defined as that which accounts for recognition in the form of the proposition This is the same.⁹ This is consequent on the fact that the essential nature of substance or quality, notwithstanding its mobility, is eternal and unchangeable.¹⁰ Thus the continuously flowing nature of quality does not annihilate the quality itself, which, if admitted, would fail to account for memory and in consequence run counter to all our daily commonplace transactions. Continuance devoid of variability stands in direct antagonism to experience. Hence permanence is not the denial of change, but includes it as its necessary aspect. In the same way, qualities in the absence of modifications are incapable of being conceived. To distinguish guṇa from paryāya, in the first place, the infinite attributes are ever simultaneously present, but the modifications do not appear simultaneously, but only in succession. Secondly, qualities render the judgement of sameness possible, while the judgement. 'This is not the same' is accountable only by making allusion to modifications. Thirdly, guṇas as such are to be interpreted as immutable in contrast to paryāyas, which are regarded as mutable. In other words, attributes of a substance are credited with the nature of perpetuation, while the originative and decaying designations are accorded to paryāyas.

Classification of substance (Plurality, Duality and Unity)

Jainism resolves the whole of the universe of being into two everlasting, un-created, co-existing, but independent categories of jīva and ajīva. The ajīva is further classified into pudgala (matter), dharma (principle of motion), adharma (principle of rest), akāsa (space) and kāla (time). Hence reality is dualistic as well as pluralistic. But, according to

the Jaina, plurality, considered from the point of view of one existence, entails unity also. According to Kundakunda, in spite of the unique characteristics possessed by the different substances, existence has been regarded as an all-comprising characteristic of reality which ends all distinctions.¹¹ The Kārtikeyānupreksā recognises that all substances are one from the stand-point of substance, while they are distinct and separate from their characteristic difference.¹² Samantabhadra also endorses this view by affirming that in view of the conception of one universal existence all are one, but from the point of view of substances distinctions arise.¹³

Padmaprabha Maladharideva pronounces that Mahāsatta pervades all the things in their entirety, but it is always associated with Avāntarasatta which pervades only the particular objects.¹⁴ In a similar vein, Amṛtandra speaks of the two types of satta, namely, Svarūpasatta and Sadṛśyasatta. The latter is the same as Sāmānyasatta. (In his Saptabhaṅgitarāṅginī Vimaladāsa discusses the problem of unity and plurality of existence identity and the articulation of differences from the standpoint of different substances are logically necessary and justifiable.¹⁵ Thus Jainism gives credence to the recognition of existential oneness but not exclusively, since it is always bound up with plurality. This is quite consistent with the Anekantic view of reality propounded by the Jaina philosopher. Thus Mahāsatta will be associated with its opposite, namely, Avāntarasatta. It may again be pointed out that this Mahāsatta is not an independent something as may be conceived, but is invariably accompanied by its opposite.¹⁶ Kundakunda holds the nature of existence as one, immanent in the totality of substances constituting the universe, comprehending and summarizing the universe, having infinite modifications, indicative of the triple characteristics of origination, destruction, and persistence and in the last as associated with the characteristics opposite to those mentioned above.¹⁷ Hence unity, duality, and plurality- all are inseparably and inevitably involved in the structure of reality. This is the Anekantic view of reality.

By recognising both jīva and pudgala as substances Jainism steers clear of the two extremes of materialism and which are radically opposed to each other. Materialism considers the universe as rooted in matter while idealism imagines the mind or spirit to be fundamental and primary. The former lays stress on the recognition of the reality of matter and considers the mind to be an incident or accompaniment; the latter affirms the mind or spirit is to be reckoned as real and matter just an appearance. But according to Jainism, both matter and spirit are equally true.

Knowledge of reality and its expression:

It will be noted here that if the Anekantic reality is indescribable altogether, any sort of discussion alongwith the path of liberation will be blocked, as nobody will be able to preach and propound.¹⁸ According to Jainism reality or substance or universe is cognized by *pramāna* and *naya*.¹⁹ *pramāna* refers to the grasping of reality in its wholeness, while *naya* points to an aspect of infinitely phased reality illumined by *pramāna*, thus the latter takes into consideration only fragment of the totality.²⁰ A substance embellishes itself with apparent antagonisms. The emphasis on the one and the cancellation of the other would irresistibly lead us to the biased estimation and Ekantic view of reality.²¹ *Pramāna* assimilates all the characteristics at one without any contradiction and animosity between one characteristic and the other, for instance, between one and many, existent and non-existent, etc. of the unfathomable characteristics, *naya* chooses one at one moment, but keeps in view the other characteristics also. We can thus say that both *pramāna* and *naya* are essential for the proper understanding of the nature of reality. Reality being the repository of infinite attributes, the apprehension of it from a particular angle of vision, i. e. *naya*, which is objectively given and not subjectively contemplated, does not exhaust the whole of the multiphased reality. So, in order to avoid the possible misunderstanding that reality is exhausted by the employment of particular *naya*, every predication should be preceded by the word 'Syāt' in order to make us aware of the possibility of other alternative predications. Hence it is known as the doctrine of *Syādvāda*. *Syādvāda* is no doubt the logical outcome of *anākantavāda*, the doctrine of the multiple nature of reality. It is simply the mode of predication or communication envisaged by the Jaina to convey the knowledge of the multiphased reality. Thus *Syādvāda* is the mode of expression, *Anekāntavāda* or *nayavāda* is the mode of cognition. *Syādvāda* is the expression of *Anekāntavāda* in language.

We may point out here that corresponding to the infinite antagonistic characteristic, there are infinite *nayas*. But summarily speaking, all the *nayas* from the metaphysical point of view can be summed up into two kinds namely - *dravyārthika naya* and *paryāyarthika naya*. These two *nayas* can very well expound the nature of reality, or substance or universe. *Dravyārthika naya* refers to the permanent aspect of a substance and *paryāyarthika naya* refers to the changing aspect of a substance.

Anekānta - Spiritual Perspective :

The first section has been devoted to the metaphysical understanding of reality or substance or universe. For the proper intelligibility of the Anekantic reality, Jaina Ācāryas have given us two nayas, namely, dravyārthika naya and paryāyarthika naya corresponding to the permanent and changing aspects of reality. This type of comprehension yields intellectual satisfaction, yet it does not show us the way to spiritual growth, satisfaction and self-realization. Axiological consciousness is very much different from descriptive consciousness produced by metaphysical curiosity of the human mind. So the Jaina Ācāryas have propounded two axiological nayas, namely, Niścaya and vyavahāra for properly evaluating the manifested and unmanifested paryāyas of self. Thus we have axiological Anekānta and the metaphysical Anekānta.

The axiological niścaya naya affirms that the realisation of self Svarūpasatta, or the manifestation of intrinsic characteristics and modifications of the self, or the expression of the self's original origination, destruction and continuance is the terminus of spiritual journey. No doubt, the self is existent, but its existence is mundane from the beginningless past. The self is not to acquire existence, but what is to be acquired is simply the purity of existence. Dharma, Adharma, Ākāśa and Kāla are the pure existents. Pudgala in the anu form is pure and in the skandha form is impure, but the self exists in the defiled state of existence. It is, in the empirical state, characterizing itself with impure modifications and qualities, and consequently impure origination, destruction and continuance occur. By its own strenuous efforts transcendental modifications and qualities, and pure origination, destruction and continuance are to be revealed. In this state alone, the self realizes its true substantiality.

Meaning of two axiological Nayas:

The niścaya naya grasps the soul in its undefiled state of existence in contradistinction to the Vyavahāra naya, which describes the self as bound, impure and the like. No doubt, we are in the defiled form of existence from beginningless past, but the niścaya naya reminds us of our spiritual heritage. It endeavours to infuse and instil into our minds the impressiveness of suddha bhāvas after abundantly showing us the empirical and evanescent character of subha and aśubha bhāvas that bind the soul to mundane existence. It does not assert that the soul is at present

perfect but simply affirms that the self ought to attain the height illuminated by it. It has the force of 'ought' and not of 'is', but this force is valid for empirical selves. In the opening chapter of the Samayasāra Kundakunda summarises the implication of the aforementioned two nayas by saying that every self has heard about, observed and experienced the worldly enjoyments and consequential bondage, but the nature of the highest self has never been comprehended.²² Hence the former is vyavahāra naya, while the latter is called nīścaya naya, which points to the potentiality of the empirical self to become pure and enjoy its unalloyed status. It is therefore avered that when the self has elevated itself to the domain of spiritual experience, the vyavahāra naya becomes false and the nīścaya naya is seen to be genuine. In other words, we achieve the right to renounce the vyavahāra naya only when we have accomplished the loftiest height of mystical experience. If we regard the vyavahāra naya as untruthful at a low stage, puṇya, pāpa, bondage, and the necessity to do strenuous effort to achieve liberation would be of no avail. It may be noted here that the falsity of the vyavahāra naya affects neither the existence of external objects nor the omniscience of the transcendental self which reflects the differences of the world as they are in explaining the nature of spiritual experience, Kundakunda affirms that the transcendental experience surpasses all the conceptual points of view²³ whether nīścaya or vyavahāra. The former represents the self as unbound and untouched by attachment and aversion, while the latter, as bound and touched by them, but he who transcends these verbal points of view is called Samayasāra²⁴ the terminus of spiritual journey. The self becomes pure consciousness, bliss and knowledge.

It may be noted here that like that nīścaya or paramārtha and vyavahāra nayas enunciated by Kundakunda, Saṃkarācārya, the great exponent of the Advaita doctrine, makes use of the paramārthika and vyavahārika view-points as the corner-stones of his philosophy. But the two differ widely. The paramārthika view as advocated by Saṃkara negates the paramārthika existence of other material and non material objects of the world which, in the view of the Jaina, have their own independent existence, The vyavahāra naya of the Jainas simply points to our slumbering state in the domain of spiritualism, and does not in the least touch the existential aspects of things. The nīścaya or paramārtha naya simply serves to awaken the slumbering soul to attain its spiritual heritage. it does not pretend to annul the external things by mere spiritual outlook.

Doer and deed - An axiological point of view:

We may discuss the philosophy of doer and the deed from the axiological point of view. From the niścaya point of view, the transcendental self is the doer and enjoys of its own pure states. From the Vyavahāra point of view the empirical self is the doer and enjoyer of the impure states of self. This is the spiritual perspective of Anekānta. There is no denying the fact that the empirical self has been the doer of impure dispositions of attachment and aversion since an indeterminable past, so it is no doubt the author of these dispositions. but according to the niścaya point of view, in whatever deeds the empirical self may get itself engaged in the world, they are not the representative of the self in its transcendental nature. When it is axiologically said that the empirical self is not the author of these impure dispositions; the purpose is to persuade the self to look behind these disposition. The chief point of reference is the self in its pure nature. There is no contradiction in affirming that the enlightened self which has realized its true nature manifests the pure modes and thereby becomes the substantial agent of those modes, and in affirming that the ignorant self because of its erroneous identification with the alien nature envelops impure dispositions, and thereby it is called their agent.²⁵ Just as from gold only golden things can be produced, and from iron only iron things, so the enlightened self produces pure modifications and the ignorant self produces impure ones.²⁶ When the ignorant self becomes enlightened, it starts generating pure modifications without any discongruity. Thus the self is simply the doer of its own states and not the doer of anything else whatsoever. The empirical self is the author of impure psychic states on account of its association with attachment and aversion. But if we advance a step further and reflect transcendently, we arrive at the inevitable conclusion that the pure self can not be the author of these impure psychological states because they are foreign to its nature. Thus the transcendental self is the doer of transcendental psychological states. Besides it is also their enjoyer.

Auspicious, inauspicious and pure psychological states:

Again, the spiritual perspective of Anekānta is expressed when it is said that auspicious and inauspicious psychological states of self continue to captivate it in never-ending tensions and the pure psychological states of self engenders equanimity. Thus from the niścaya point of view both the auspicious and inauspicious psychological states prevent the self from

attaining to the loftiest spiritual heights, hence they should be equally condemned as unwholesome for the healthiest development of the self. But from the vyavahāra point of view if the empirical finds it difficult to rise to spiritual heights, it should develop auspicious psychical states, but with the clear knowledge, that psychical states will in no way enable the self to realise the pure states of self. The inauspicious psychical states should by all means be disapprobated.

In the end we may say that to make Anekāntic reality intelligible from the metaphysical perspective, dravyārthika and paryāyārthika nayas are necessary and to make an axiological assessment of Anekāntic reality from the spiritual perspective, niścaya and vyavahāra nayas can not be dispensed with.

References :

1. Āptamīmamsā, 15, 34, 56 : (Muni- Anantakīrti Granthamālā, Bombay)
2. Studies in Jaina Philosophy, p. 18. : (By Nathmal Tatia, Pārśvanātha Vidyāśrma, Varanasi)
3. Pañcastikāya, Comm. 10. : (Srimad Rajacandra Aśrama, Agas)
4. Pañcastikāya, comm. Amṛtacandra, 10. :
5. Tattvārthasūtra, V. 41. Under the title Sarvārthasiddhi : (Bhāratiya Jñāna Pīṭha, Kasi)
6. Pravacanasāra, V. 16 (Edited by Dr. A.N. Upadhye. Srimad Rajacandra Aśrama Agas)
7. Āptamīmamsā, 72.
8. Pravacanasāra, Introduction, A.N. Upadhye, p. L. XVI
9. Sarvārthasiddhi, V.31.
10. Ibid.
11. Pravacanasāra, Comm. Amṛtacandra, II.5
12. Kārttikeyānupreksā, 236 : (Rajacandra Asrama, Agas)
13. Āptamīmamsā, 34.
14. Niyamasāra, Comm. Padmaprabhamaladhārīdeva, 34 : (Sri Kundakunda, Kahana Digambara Jaina tīrtha Surakṣā Trust, Jaipur)
15. Saptabhaṅgitarāṅgini, p. 78 : (Rajacandra Asrama, Agas)
16. Pañcādhyāyī, I. 15 : (Mālikā Granthaparakasa Kāryālaya, Indore)
17. Pañcastikāya, 8.
18. Yuktyānuśāsana, 43 : (vira Sevā Mandira, Daryaganj, Delhi)
19. Tattvārthasūtra, 1.6 under the title Sarvārthasiddhi.
20. Sarvārthasiddhi, I. 6
21. Syādvādamañjarī, 27 : (Rajacandra Asrama, Agas)
22. Samayasāra, 4. : (Edited by Balbhadrā Jain, Jaina Vidyā Saṁsthāna, Digambara Jaina Atīśaya Ksetra Sri Mahāvīraji)
23. Ibid. 144.
24. Ibid. 141, 142
25. Ibid. 128, 129
26. Ibid. 130, 131

Former Professor of Philosophy
M.L. Sukhadia University,
Udaipur (Rajasthan)

Anekāntavada and its statement in Saptabhanginaya

— Arun K. Mukherjee

With Anekāntavada and its statement saptabhangī naya the traditional as well as non-traditional schools of philosophy have raised objections with touches of ridicule. I am stating four such objections. I think, the Jaina philosophers have been more criticised than understood. Anekāntavada did not fit into the prevalent category-structure of philosophical thinking. So this school have been till discussed by others. From my personal biography let me say a few words. I learnt navyanyāya with Nagarjuna as the purvapaksa at the feet of Mahamahopadhyaya Kalipada Tarkacāryā for a decade. The Jaina philosophers never occurred to me. Once it so happened that I was looking for the bauddha text of Sambandhapariksa . The full text was not found then. My acāryā suggested that I could search for it in the Jaina source, for they discussed every school of philosophy though they themselves were neglected by others. I got a part of Sambandhapariksa quoted in Prameyakamalamartanda. I brought the book to my acāryā . Keeping me waiting in silence he gradually entered into book with deep attention. After three hours he dismissed me for the day and asked me to leave the book with him. Next week I found in his book-shelf a new book, and returned mine. He told me, life is too short for it ends before we have touched only a part of the śāstra, I have missed the realistic school of Jainism. This situation has not changed yet.

However, in this paper I have approached the problem of anekāntavāda and its statement in saptbhaṅgināya with four problems to present by polemics my understanding of them. Just as I have gleaned the points in this polemics, I have found the answers, as I feel and think, by intuitions gleaned from the later developments in the history of philosophical thinking. I have turned the light to the past to understand the wisdom of the past scholars. For one to treat this method as anachronism would be wrong. I need not over-emphasize the fact that Jain philosophers were largely misunderstood, for example by a savant like Sankara, because the category structure of thinking then failed to grasp Jainism, Jains were far advanced in their thinking. This is my excuse to see them in the light of the present categories of thinking without subscribing to any modern school of philosophy.

The four points are :

One : Things, vastu, have multiple properties. In statement descriptive of thing words have a multiple meaning as we describe the thing, its being, by its attributes. In a statement or proposition these attributes are the vidheya for the subject. We call the subject, i.e. ontologically, vastu, as object, or to borrow from Russell, events. Now, only a sarvajña can describe the object meaningfully adequately. But for us, the common thinkers, do we have only a relativistic knowledge of words and things? If this relativism is admitted then would not scepticism, as failure of adequate knowledge of things, only a step further?

Two : If things are Anekānta then how words in descriptive knowledge, i.e., in language, should behave? How, by what rule, can we get univocally meaningful words for discourse? Since Aristotle we have been logically determining the meaning of a word by essentialism. Taking only the genus and differentia the rest of the attributes predicated were declared non-essential to the being of subject thing. Since then we have so many theories of meaning and the relation between words and thing till Russell, Frege, and earlier Wittgenstein. But Anekāntavāda persisted with the problem. Ontologically the problem remained: the word gatah, having no univocal lexical grammatical logically tied down meaning and synonymity, acceptable in the ontological field of words and things relations, how can we use (such a word) in a discourse, to communicate meaning? Even if we accept with Jain philosophers and many others that

तुलसी प्रज्ञा जुलाई—दिसम्बर, 2001 129

words have a svabhavika samarthyā, natural capacity to be a sign (samaya) of a significant, how to use a word for a thing which is Anekānta. By what is called svabhavika samarthyā only one question is answered, if words and things are ontologically not the same then why a particular word could be the sign for a significant? Scepticism is blocked to enter or find a gap between knowledge and language, word and thing. The problem of relating the multiplicity of attributes and aspects, multiplicity of perspectives of the thing and corresponding multiplicity of meaning of words be tackled in a discourse, how to communicate with others by language? The speaker-hearer problem is there still. The trouble is only multiplied when the Anekāntavāda says things vastu in its being also have negative or contrary attributes.

Three : Nāgārjuna and Sri Harṣa are the two dialecticians of despair of discursive reason. IN the catuṣkoti nyāya the third sentence — asti ca nāsti ca — is not a real alternative. It is only a normal empty sentence, for it is self-contradictory. How logic deals with it logic knows, ontologically it is absurd, so also the fourth one. But in the saptaḥṅgī third one common to both sententially has very different meaning stating the anekāntavāda. Vastu things (events) contain both what we call positive and negative attributes. The word therefore is meaningful by both at the same time. How ? Syad asti ca nāsti ca gataḥ How can it be a true proposition ?

Four : What does the fourth sentence, stated with an emphasis (eva) — syadvaktavyam eva gataḥ — mean. What is said of the gataḥ vastu as avaktavya along with asti and nāsti? The three last propositions are symantically the same with the first three. Asti, nāsti, and avaktavya rank together to

We had to wait for further developments in the history of thought, arising of other ways of thinking.

Leibniz's idea of "actual" and possible world

Hegel's idea of the "other" and his observations on the law of contradiction in the dialectics of thinking; Husserl's criticism of relativism, the idea of 'horizon and 'predelineated' potentialities, and the idea : a pole of identity: while speaking of an object; Sartre's idea of 'nothingness'; Derrida on Plato's pharmakon, and his deconstruction of

the structuralist idea of binary and meaning and his theory of 'margin' in meaning, give an intuition to understand what the Jains said long ago in their theory of anekāntavada and saptabhangī as a statement of it. Also I have found in saptabhangī a structure of what I call a polylogue with different cultures for understanding cultures, in social situations. I have coined the word as I am not satisfied with Habermas's dialogical idea of discourse. To collect this intuition to understand Anekānta from the modern developments in the history of thought, one need not subscribe to the Hegelian absolute idealism and his theory of history. Husserl's Phenomenology as theory and method and his idea of the epoche, Sartre's Existentialism, and Derrida's Post-Modernism and Deconstruction. Jainism as a school of thought does not go with any of these philosophical dogma. I have great adoration for the later Wittgenstein. Philosophical Investigations have helped me understand what the Jaina philosophers wanted to say in the nayavāda and enumerating types of naya on the questions of word, identity, meaning in a discourse. Here I give in bare outline the ideas and their working in my understanding when I faced those four problems in reading Jaina philosophy.

1. In the Phenomenology Hegel says that every assertion contains some truth however partial his perception of an object may be. A statement is not like a legal verdict that decides between conflicting claims. One is required to see how statements, even conflicting ones, are reconciled in our view of things, to see what is true in both without asserting what is false and one-sided in each. Thus being and Nothing are reconciled in Becoming, Being and Nothing are absorbed in Becoming.

Jains say that our perception of an object is perspectival. Each perspectival statement is a truth claim, even negative statements. An object is like a field where all sorts of statements about it are reconciled. Here both affirmations and negations are absorbed. In other words, from the (non-Hegelian) Jain point of view one can say that an object or vastu is defined by what is affirmed of it and what is denied of it. The first two statements in saptabhang state a real state of affairs in the vastujagat, and make meaningful the third statement. Also notice, in the first two statements there is an added emphasis by the word eva in Syādeva. Why? When one states the Anekānta we have so far two categories in the first three statements 'is' and 'is not'. Again the word eva occurs for the

third time in the fourth statements — syat avaktavya evaghatah. Here we get the third category — evaaktavya — ‘possibility’ or probability in modern scientific terminology (not inexpressibility). With these three categories Jain philosophers have constructed seven simultaneously true descriptive statements of an existent object of knowledge, sensory knowledge. Avaktavya I shall explain while stating Husserl’s view.

2. In Cartesian Meditations to explain his point Husserl gives an example of an object die. “...this die is given continuously as an objective unity in a multiform and changeable multiplicity of manners of appearing, which belong determinately to it. With that, another fundamental trait of intentionality is indicated. Every subjective process has a process of ‘horizon’, which changes with the alteration of the nexus of consciousness... there belongs to every external perception its reference from the ‘genuinely perceived’ sides of the object of perception to the sides ‘also meant’ — not yet perceived but only anticipated. Furthermore, the perception has horizons made up of other possibilities of perception, as perceptions that we could have, ... the horizons are ‘predefined’ potentialities. ... The object is, so to speak, a pole of identity, always meant expectantly as having a sense yet to be actualized.” (Sections 17-19).

The Jain is not a Phenomenologist, nor is he in search of ‘essence’ by ‘bracketing’. The contention of this passage is about what attributes have as yet been perceived of an object, and what can reasonably be thought and said to be of possible perception. Our knowledge of the anekanta at any given time are limited by the attributes known, perspectives grasped. But our quest do not rest with them. What truth claims we have made in positive and negative statements are our affirmations about the object. On the basis of these affirmations we seek more about the object. Thus reasonable possibility of attributes, perspectives, make part of our knowledge of an object, By reasonable is meant consistency and coherence with knowledge categorically stated by asti and nāsti — evakarena. Thus saptabhangī is constituted of three categories — ‘is’. ‘is’ not, ‘possible’ (asti, nāsti, avyaktavya) emphasized by the words syādeva. If you want to include the still more modern ideas in the sciences, and call it probable I have no objection, for these probabilistic are stated, expressed, in probabilistic statements. When saying so I take into consideration paryaya which I have not discussed here, but

I should ... asti and nāsti in the last three sentences carry probabilistic meaning.

3. Derrida in *Dissemination* points to the various meanings of the word *pharmakon* in Plato's text. It has multiple and contradictory meanings. It means a medicine, a charm of spell, a poison, a dye, a means of producing something, etc. Obviously these are not synonyms expressing a single meaning and identity. This is multivalence that is in use in Greek text. Every translation is a reading of the text. Derrida warns against interpretative translation that tries to tie down the word to an univocity : it destroys the *pharmakon* but at the same time forbids itself access to it, leaving it untouched... (*Dissemination* P.99). Derrida takes this example to destroy the structuralists' binary opposition and meaning. Structuralists say that every word has its binary word and both move round each other. Thus 'medicine' and 'poison' are binary words that give meaning to each other. Pointing to Plato's *pharmakon* and its use in Greek literature Derrida deconstructs this binarism in meaning. The word includes within itself its other.

This is what the Jain philosopher say when he speaks of the same object as *asti* and *nāsti* and *asti ca nāsti ca*. We must not forget the simple truth that all the seven statements of *saptabhangī* can be descriptive of an object at the same time and space.

4. I have laid bare my understanding of *anekānta* and *saptabhangī*. One point remains to be explained. With this multiplicity of meaning of a word by its multiplicity of attributes often in opposition (*pharmakon* = 'medicine' as well as 'poison') and possible attributes too, how can the Jain philosophers enter into a discourse with others. Wittgenstein in *Philosophical Investigations* says that words do not have round meaning as we find them in use in ordinary language. A language is like a game. A game is not a game unless played. A language is not a language unless used. Meaning of words are determined by the game we play, by the use we make, to some purpose. Thus the word 'Knight' means one like Sir Gallahad when we are reading King Arthur and His Knights of the Round Table. It refers to Sir P.F. Strawson when we speak of his being Knighted by the Queen in recognition not of valour but his erudition. It means a piece on an a board of chess-the replica of a horse with its peculiar movement on the board.

Naya does exactly the same thing for the anekānta vastu, multiple meaning word. Nayah satasah prakarah. There are as many naya as are there types of propositions. Naya is the intention of the knower and speaker and hearer so to say : pratipatturabhipraya-visesah nayah (Vadideva Suri in Pramananaya-tattvaloka).

II

Now at the end of this explication my task remains to show how saptabhangī stating anekānta is the structure of a polylogne, the term I have coined.

Director
Academy of Comparative Religion India
256, Rash Behari Avenue, Flat-7
Calcutta - 700 019

Uniqueness of Anekāntavāda

— H.R. Dasegowda

The general acclaim is that Bhagavān Mahāvīra was the original propounder of the doctrine Anekāntavāda, but Prof. A. Chakravarthinayanar who attributes Jainism to the Dravidian Origin, suggests that the Anekānta doctrine is certainly older than Mahāvīra. Malvina on the other hand suggests that the Vibhajyavāda of the later part of śramana movement of India culminated in the Anekāntvāda of Mahāvīra. In answer to avyakta, Mahāvīra applied a sort of Vibhajya method and thereby Mahāvīra laid the foundation of the doctrine of Anekāntavāda. Matilal finally credits Mahāvīra as the original propounder of the doctrine, and observes that Mahāvīra carried the concept of Ahimsa from the domain of practical behaviour to the domain of intellectual and philosophic discussion and thus, the Jaina principle of 'respect for the life of others' gave rise to the principle of 'Respect for the views of others'.

Anekāntvāda can be expressed as a doctrine that underlines illuminatory thought and not an incendiary action, but attempts clearly to harmonize different points of a given object in its totality. It is, being one of the basic doctrines of Jainism, an important principle for peaceful co-existence-philosophically and socially, and is based on the conviction that an object is constituted of diverse aspects and its proper understanding requires the consideration of other aspects with open mind. It means no compromise, no doubt or no uncertainty, but an object is many sided, which one must be capable of understanding the

point of view of others, be tolerant. Therefore, it is an ideal in the intellectual field. It heralds that no ism can claim absolute truth for itself, and no ism can be condemned as absolutely wrong.

This doctrinal ecumenism of Anekānta has a new dimension and holds dialogue as a very important factor if ever to make a breakthrough in the atmosphere of antagonism, hostility and misunderstanding. It has the strength to counter the religious ghetto attitude “we have the truth and they don’t”. For Mahatma Gandhi the concept of Anekāntavāda gave rise to an extreme catholicity in views in which it was not sufficient to merely tolerate or accept another religious view point, but rather, to approach it with a spirit of understanding, respect and appreciation.

Gandhiji further said that “I very much like the doctrine of many-sidedness of reality. It is this doctrine that has taught me to Judge a Muslim from his own viewpoint and a Christian from his. Formerly, I used to resent the ignorance of my opponents. Today, I can like them because I am gifted with the eyes to see myself as others see me vice-versa. My Anekāntavāda is the result of the twin doctrines of Satya and Ahimsa”.

The Anekānta doctrine, believed to have been propounded by Bhagavān Mahāvīra is the culmination of the process of understanding Reality. Its view of progressive inclusiveness is different from other contemporary philosophical thoughts, from exclusive isolationists to the moderates. It is quite distinct in its concept, content and approach. However, the success of this doctrine is blurred and burdened by the misunderstanding and the weight of the monistic adversaries rather than doctrines wholeness.

Learning, understanding and viewing are the key words of this doctrine, they form key to its Kernal. It seems that the qualitative nature of this doctrine has quantified Indian’s richness, and this richness has made India strong and forceful. Through non-violence and tolerance, it has absorbed many faiths and cultures over several centuries. The doctrine of Anekānta, knowing Reality in its totality with a comprehended many sided view in a given condition, brings unity, hope, tolerance and peace and therefore, it is much desired to bridge the gap between peoples and their philosophises in an insular world that is not naturally inviting to the outsider this doctrine which offers precisely a non-belligerant conscious. It accepts a multiview to bring about the vision of intergroup harmony,

tolerance and equality. Multiview neither accepts exceptions nor authenticates the exact opposition, but it seeks equality and responsibility in a pluralistic society.

The many-sided view, therefore, is not necessarily irreconcilable, incompatible and opposed to each other. It is infact fecilitates to know more of the premise in its totality and thereby emerges as an agreeable truth. Only the ignorant or the blissful arrogant would deny the resemblance and compounds by self-serving generality. The preception of ekānta is starkly simple, it is incomplete, incomprehensible and exclusivist.

It suggests unchange, insular and permanent views. This fundamentalist mentality lacks tolerance, understanding and knowledge, whereas Anekāntavāda is firmly based on rational intelligence with a meta-philosophical approach to the shrunken world and its community of peoples. Thus its uniqueness and application as a doctrine in the present multiethenic and multifaieth environment is quite refreshing.

References :

A.N. Upadhya : Jain Contributions to Indian Heritage Dr. J. Humar : Jainism and Mahatma Gandhi

Dr. Y.J. Padmarajaiah : Jaina Theories of Reality and knowledge.

Director,
Gandhian Centre for Peace and
Non-Violent Action, and
Principal, Vidyodaya College,
681, 'Anuradha-Anuroopa',
12th cross, MCR Extention,
Bangalore - 560040
Karnataka- India

The Applied Aspect of Anekāntā Philosophy

— Dr. Nemi Chand Jain

I would like to begin my discourse with this verse (gāthā) of Acharya Siddhasen:

jena vinā logassa vi vavahāro savvahā na nivvaḍai
tassa bhuvanekka guruṇo namo anegantavāyassa

(My revered salute to the unique Guru æ teacher - Añekantism without whose guidance lokavavahāra- worldly relation- is absolutely impossible or say appears to be an impossibility).

As universally known the doctrine of Syādvād (non-absolutism) is the keystone of Jaina Nyaya (logic). This principle basically advocates in a very precise manner the nature of vastu or reality. Syādvād/Anekāntavāda & Saptabhaṅgī are almost equivalent terms which tentamount to mean manifoldism or multiplicity of attributes belonging to the vastu under investigation. Syādvāda or saptabhaṅgī or heptagonal doctrine is meant to unfold the multi-dimensional nature of a thing, person or existent (sat) i.e. this principle views an object or subject through seven different folds. It presumes just at the outset that reality (tattva/sat) is multiple and not unitary (one fold). That way this doctrine can be designated as the doctrine of 'may be'. In other words we may name it as kathañcitvād. By kathañcit we mean may be possibly or in relation to.

First of all, I would like to shed light on the meaning of the word Anekānta and Syādvāda'. The word Anekānta has three formative constituents "an + eka + anta which respectively mean 'not + one + aspect'; holistically indicating thereby that vastu (vatthu) owns a multitude of aspects, therefore, it cannot be viewed unitarily or in isolation. Whatsoever may the case be it can only be conceived in its multifaced fold. Without such pursuit we cannot explore purity (śuddhatva), onliness (kaivalya) or entirety (pūrnatva) of any sat. Absolutism (ekānta), in no way, can unearth a vastu in its totality.

In the same way the word 'syādvāda' indicates 'may-be-ness' of a vastu or situation. Etymologically 'syādvāda' is composed of two linguistic components - 'syat' (a nipat, which indicates that the origin of the word in hand is not known) meaning there in 'possibly' or 'may be' : and 'vad' communicates the meaning 'predication' i.e. predicating the nature of a vastu through seven point system of description i.e. predicating conditionally or relatively the nature of vastu or sat. Usually people confuse Sanskrit 'syat' with Persian 'shayad' and unnecessarily blame 'syādvāda' as a doctrine creating confusions or giving wind to scepticism (sandehavād) ; but virtually this is not the case. The misunderstanding has survived only due to phonetic semblance of these words. Precautions, therefore, must be taken to avoid academic lapses.

Thus, etymologically, it is quite clear that Anekāntvāda is a logical route leading towards pursuit of samyaktva or kaivalya or reality because always evolves or emerges relatively and not/never accidentally. It takes time to understand nature of vatthu whatsoever it may with in logical mould. As soon as we precisely scan these words we get a substantial breakthrough to understand this simple and sure process of investigating reality.

This will be inappropriate to say that Bhagavān Mahāvīr is the founder of Jain dharma, therefore, the doctrine of syādvād has come to exist in his times. Prior to him were twenty-three Tirthankaras who pronounced this & advocate Jainism. This will also be improper to say that Jaina Nyaya has its origin in Sanjaya Velatthiputta, who happens to be one of the contemporaries of Gautam Buddha. Velatthiputta advocated fourfold method of investigation, but where as virtually the method he propagated was blended as Anīścayavād. On the other hand Jaina theory

of Saptabhaṅga equisitively pronounced holistically the inquiry process related to kaivalya or vastu-svabhāva.

The sevenfold judgement pattern is as given below-

Syādasti	May-be it is.
Syānnāsti	May be it is not.
Syādaināsti	May be it is and it is not.
Syadavaktavya	May be indeterminate.
Syānnāsti avaktavya	May be is not is also not indeterminate.
Syādaināsti avaktavya	May be it is & it is not & is also indeterminate.

For avaktavya, terms 'interminate' 'indescribable' 'inexplicable' 'unfixed' etc. are used. Others who misunderstood the right meaning of 'syāt' equated it with 'shāyad' misnamed the theory as 'aniscayavād' or 'sandehevād' infact, 'syādvād' misnamed the theory as 'aniscayavād' or 'sandehevād' Infact, 'syādvād' is the only way out to cross safely the linguistic hurdles came up due to inability to express the experience in context.

Language as we know cannot appropriately/exhaustively express our ideas and experience in their entirety or completeness. During the process of expression much is left untold. For example, take any hue or colour, say red, and inquire honestly/scientifically whether there is any red colour? Indeed, there is no colour as such, there is a family of red colours. So it is very difficult to point out unitarily that this is red; because it may not be red, but may be whitish red, may be grayish red, may be blueish red, may be greenish red and so on, but be sure there is nothing like a pure red colour in the whole of universe. Besides percentages of various shades/nuances may also prove decisive. This way we must continue to be aware that doors of possibility are always opened. They cannot be shut even for fraction of a second. The same is true with the framework of tastes & shapes of letters in a script e.g. 'sweetness' or the shape of the varna (letter) 'a' of Devanagari Script no nomenclature has been evolved so far which can name all the 'sweetnesses' and 'shapes of a' available in the world or awaiting possibility.

Linguistically this is impossibility. Really speaking this is a great challenge. The multiplicity of colour, tastes shapes etc cannot be pronounced exclusively. The only way to discover finality is possible by

adding 'kathañcit' with each predication. Same is the case with 'a' of Devanāgarī script. Suppose one billion Indians are asked to write 'a' in their own hand writing, can all of them write exactly having the same shape? Mind, shape can be similar but cannot be exactly the same which was written by the first Indian and then by the billionth Indian. If given to 6 billion people of the world each will exhibit a difference i.e. there will be 6 billion 'a' of different shapes. Be sure all these will amazingly differ in texture, size, curves, thickness etc. But any way they are bound to differ or vary in their individuality.

This proves that there is multiplicity of existents which is indescribable i.e. it is impossible to predicate simultaneously all aspects or attributes belonging to vatthu either through language or through any other means of communication, that is through colour, shape, tones, moods etc.

In short, eventually, Anekānta is a practical solution to comprehend multiplicity, simultaneity and ultimately any finality or entirety related to vatthu or vatthu svarūpa i.e. nature of a reality or existent can well be explored through syādvād i.e. non-absolutic way of investigation.

The world is brimful of opposites. It is dialectic (dvandvātmaka) hence, some method, say, 'know how' is to be devised for a safer journey beyond opposites. The point is whether can we do so? Yes, this is feasible, if we start our tour with a clean slate presuming that somewhere we can find harmony, coherence, rhythm which interconnects poles. Because sometimes so called opposites are not opposites at all. Eventually they come out either positive or complementaries. 'No' to 'A' may conveniently mean 'yes' to 'B'. The situation which appears unpalatable to someone may prove conducive to other. How and why this is so? Why everything is not hundred percent absolute? Conclusively, we can say that all beings exist relatively they can not exist absolutely, therefore, if we want to understand the complex scheme of our planet or universe, we have to comprehend things/situations relatively and not absolutely. The enigma of 'uniformity in diversity' must be unlocked meticulously i.e. by analyzing things in a synthetic way. One should not forget that nature of sat cannot be revealed in a climate of bias, prejudice or preoccupation. For pursuit of purity or completeness, a clean slate is a must. In short, we should not impose upon others our 'shoulds' 'oughts'

and 'musts'. In my humble view Anekāntvada is the best 'know how' for the pursuit of samyaktva (completeness or perfection) through creating necessary circuit for a secure/safe journey beyond opposites.

Now this is very clear that without atleast some workable knowledge of Anekānta/Syādvād, study of Jainism is neither fruitful nor advisable. If we wish we can introduce this methodology in other fields of knowledge or walks of life.

As known, these days we are engulfed in chaos, strifes, quarrels, wars, violence, barbaric cruelties, confusions, suicides, hijackings, kidnappings, murders. etc. For uprooting these heinous evils Anekantic life style can prove pancreatic therapy. At the very outset this way of thinking/doing believes that there are limitations everywhere which debar knowing vatthu or sthiti in its totality. Simultaneity (yugpatta) is almost impossible, therefore, one is supposed to know things drop-by drop and then blending the components together to draw a perfect picture. This, we may call or name a holistic way or thinking for creation of a conducive, productive, healthy, spiritually rich climate.

Quite obviously instead socialization of non-violence, accidentally or deliberately or selfishly violence has been globally socialized. This unlucky tragic event has taken place in the past millenium. By socializing violence we have almost ruined the complete basic texture of human values. The basics of the society have been irreparably damaged. Nearly every thing has been toppled over and dehumanized. The current of dehumanization is so rapid & fussy that we feel very much dejected whether repairs will ever be possible? We have almost stopped thinking about other i.e. we have become very much egocentric, intolerant, and have forgotten that we are not the only occupants of this planet. Bias, obstinacy, intolerance etc. have overpowered the social conscience. Therefore, in such a vicious/fearful cycle of happening the Anekantic style of life can be the only answer to complex disturbances etc. Facing humanity at this unfortunate juncture of time. I feel that social/ethical values can be conserved through reasonably and generously giving sufficient room to the feeling of others. Reverence for life, mutual respect, and a selflessly tempered climate can rebuild the dilapidated society. In other words Anekantic style of positive thinking can work as cultural therapy to remove or cure ills and ailing which quietly crept in the mould of society.

Take for example the social evil of dahez (dowry). This has fractured the domestic peace and amity of our society. Domestic violence is at its climax. Is there any remedy to this heart-breaking/torturous evil? Yes, there is if we inculcate positive thinking in the hearts of coming up generation. By following the path of anekantic life style we can conveniently liberate woman of this heinous evil. We, with all possible care and caution, should try to set the pace of present generation towards peace, integrity, amity, dignity, love and creative thinking. Anekānta, we feel, can engineer this congenial restructuring of our society. It can pump/ventilate fresh air in the minds of those who are dangerously involved in torturing women of our times due to misunderstandings and through overestimating the power of money; now this is very much clear that money/muscle be the way to accomplish social health/emotional hygiene. These are some ways which can lead us to heal the traditional wounds which have defaced Indian society. By understanding the way of life as pronounced by Anekānta Darśan (philosophy) we very confidently/definitely bring about a seachange in the relationship pattern of Indian society. Relativistic thinking is not only healthy, lucrative, creative & positive thinking but is also a way very well equipped with an insight which can vigorously combat the complexities facing us. My counsel is that if anekānta pattern of living should be properly propagated/popularised managed in such an effective manner so that the last man of the society may start feeling its worth/importance and opt it as an uplifting process to better/benefit his day-to-day life.

The crux is whether it is possible to inculcate in the mind of the people that accommodating or respecting the feelings of others is the only way to create productively beneficial climate. Can we not educate people to love and respect each-other and cut short or off the hurdles existing in between them? Yes I say emphatically that this is hundred percent possible, if we activate and make operative the anekantic way of life with a spirit of accountability & responsibility. If we can carry the message of love, peace, non-violence forgiveness and friendliness logically to our countrymen and to the world the creative potentials of anekantic thinking/doing life style can be mobilised and its applicability can be proved. I have strong belief that anekānta can immensely help us/ every one in sorting out differences, and can create forgiveness climate

in the society and oblige people adopt tolerance, give up obstinacy, and encourage to be compassionate and considerate.

Anekānta style of life helps in reconciling differences subsequently erasing enmity and unfriendliness. The Findhorn Foundation in cooperaton with Coventry Univesity's Centre for Forgiveness and Reconciliation organised an International Conference on forgiveness from 16th to 3rd oct., 99. The conference aimed at exploring the process of forgiveness and learning more about opening windows between adversaries. Thus Anekānta process of thinking appears to have enough potential to educate, inculcate & create friendly atmosphere across the globe. If we can arrange a global meet on anekantic way of life this will be a timely contribution to eradicate hostilities hampering human progress. Reconciliation of opposites or upholding feeling of togetherness can be ever-memorable contribution of Anekāntavād. With its help we can very well review the complex range of feelings and can set a psychological pace for the great universal journey of love, fraternity, peace, compassion, and prosperity. This is encouraging and very much anekantic that with the slogan 'Do not let take old grudges into the new Millenium'. Forgiveness week 2000 has been celebrated from Feb. 20th to Feb. 26th 2000. I believe this is real hammering to shape Anekāntavād Syādvād for the welfare of the human society. Such experiments can only reveal usefulness and applicability of anekantic style of living.

In this lecture I am not discussing the epistemological structure of Anekāntavād/Syādvād, but I intend to bring forward the instrumentality and usefulness of anekantic process of thinking. Applicability or operative potential is to be carefully and holistically discovered.

In Jainācār (Jaina conduct) samitis (watchfulness; moral vigilence) and gupitis are described. These have been designated as eight mothers of pravacan i.e. caritra. Bhāṣā Samiti and Vacangupti are of paramount importance. If these are appropriately advocated, then operative aspect of Anekānta can be accelerated. Undoubtedly language has an immense role in deciding friendly or unfriendly bonds between the social components. Anekāntavād appeals that all possibilities - maximum potential- must be explored so that non-violence and feeling of compassion may be made global. The basics of Anekāntavād can script beautiful/amicable art of living with an emotive flavour of equanimity.

If the doctrine of Anekāntavād is meticulously managed there is nothing in the world which can deter us in materialising the grand idea of 'Vasudhaiva kuṭumbakam' (this planet is our family) and 'Vividhatā mein ektā' (unity in diversity). Believe Anekantic process of thinking is not only dynamic, creative and positive but promotes almost all the aesthetic & ethical values of life as well.

In the beginning, I have said that without Anekānta the lokvyavahār (public relations) is altogether impossible. Unless we adhere to it we cannot build a society free of violence, cruelty, and enmity.

Acharya Siddhasen in one of his thought provoking verses has rightly pointed out that Anekānta is that pivotal force which can conjunct/conjugate different and can beget a 'family of opposites'.

- rivers when merge in an ocean lose their identity, in the same way various view point when merge in the vast ocean of Anekānta lose their individuality. Anekānt's speciality is that it emerges when all diversities disappear. In this context the story of five blind men and an elephant can elucidate.

These days we are confronted with so many untoward problems amidst which the relevance of Anekantism as a positive approach to life cannot be undervalued. If we start respecting each others view points then an atmosphere of goodwill can conveniently usher in.

At this crucial juncture of time we need, not only positive thinking but positive doing is also required. This is possible only through a technique, which is democratic giving due opportunity to all without discrimination. A distinct/transparent/clear cut life style is the need of the hour. Therefore, a workable plan is to be prepared out of the chaotic conditions surrounding us. We cannot exactly imagine the set of conditions existed at the time of Bhagavān Mahāvīr but this is definite that we were at cross-roads where a technique to steer safely was very much required. A simple, direct, easy to handle, promptly understandable, logical mechanism was demand of the hour. Thus a well-fashioned technique to think healthily and confluently evolved and guided the people's conscience.

We should know this with all possible clarity that extremism has never been a successful solution neither in past nor in present. For right

and fruitful understanding some openness of mind is always needed i.e. a relative access to all complex problem is an urgent need of the hour. Jaina logic i.e. Syādvād (multidimensionalism) access to knowledge can fulfil this requirement. We, every one, should acknowledge the importance of this breakthrough and should make it operative in day-to-day life to purge extremes. This will pave a well-secured source route to peace, to happiness, and to prosperity.

An especial feature of Anekānta technique is that it emphasizes understanding rather than knowledge. We should know emphatically that if knowledge is gradually not transformed into understanding, it will remain either futile or inert. Anekāntavāda advocates that we should accept each one's individuality with the due respect, but relatively. Relativism is the crux of syādvād without which the basics of Anekānta topples. Anekānta, therefore, is the foundation stone of Jaina Nyaya without which Jainism converts into a mess. This is a fact that Anekantavād/Syādvād originally are techniques mainly evolved to understand nature of sat/dravya, hence its texture was philosophic but gradually when their woof and warp, their fabric came to light, it revealed its social utility. Munis/Sadhus; scholars/Pandits realised that this technique can be used extensively. The power of Anekantism, its effectiveness as an infallible technique could be partially known. Perfect todate spadework is still awaited.

We believe that this system of positive and constructive thinking coupled with doing if carefully made operative can solve many intricate problems and can enhance invariably dignity of mankind, which seems pacing towards annihilation.

A saliant feature of Anekantism is that it is generative. It doesn't refuse to evolve. It is not conservative. It is a continuous process. It never stops till symptoms of completeness emerge. On the face we feel that the whole process is simply religious; but believe this is a very well established logic in its top-to-bottom makeup.

The problem of initiating attitudinal change in the individual and the society, is a very important issue. Infact, politicians and like-minded people are in the habit of shirking complex questions e.g. the question of defining secularism is still pending. Nobody is worried about it. Really speaking attitudinal revolution can only be brought by educating the

masses that reverence for each other's views is the only way to peace and happiness. It is a mutual goodwill contract, which can survive vigorously by tolerance, forgiveness, right understanding, and positive living. Violence or intolerance has no room in this goodwill plane. Anekānta/syādvād provide effective tools to resolve intricate issues and thus can relieve all kinds of tensions whether personal or social; local, national or global. But the question is whether we or the society is in the mood to accept this two and a half-millennium-old positive unfailing technique? I hope that the Jaina society will honestly endeavour to convince its worth.

I would like to conclude my lecture with this that by popularizing Anekānta technique of positive attitude one can conveniently cross the barriers of language, caste, colour and creed and can sincerely try to enhance the quality of life.

References:

1. Jaina Logic and Epistemology : Harimohan Bhattacharya; 1994.
2. Jainendra Sidhant Kosh, vol. I, iv. Kshullak Jinendra Varni; 1973
3. Kund Kund Bharati (collection of works); Edited by Dr. Pt. Pannalal Sahityacharya, 1970.
4. Nyayacharya Dr. Darbarilal Kothiya Abhinandan Granth; 1982.
5. Reality, Prof. S.A. Jain; 1992.
6. The Scientific Foundations of Jainism; KV Mardia 1990
7. Jaina Philosophy : An Introduction; Mohanlal Mehta; 1998.
8. Jain Darshan aur Anekantwad (Hindi); Yuvacharya Mahaprajna; 1989.
9. The power of Positive Thinking; Norman Vincent Peale; Reprint 1998.
10. Power of Positive Doing; Ivan Burnell; 1999.
11. The Tao of Physics: Fritjof Capra; 1985.

Editor 'Tirthankar'
65, Patrakar Colony,
Kanadia Road
Indore-452 001 (M.P.)

Anekāntvada :

Objections raised by Prof. N.K. Devaraja and answers given by Acharya Shri Mahaprajna

— Dr. Pradyumna Shah

Since the origine of Anekāntavāda many objections have been raised by the scholors of different schools such as Acharya Shankar and Dr. N.K. Devaraja. Acharya Mahaprajnaji has collected the objections raised by the scholors both the ancients and the moderns and has answered them in his popular book 'जैन दर्शन मनन और मीमांसा' - ¹

Dr. N.K. Devaraja has criticised the doctrine of Anekāntvāda in his book 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' ² He points out, how to establish any kind of identity (unity) or hormony among different statements that are made from different points of views and with different expectations to single entity. There is stability in every reality and every reality is liable to changes having an origination and cessation. The critic points out that the Jain Philosophy gives equal value to both of these facts i. e. (i) stability and (ii) origination and cessation. Now the question arises whether the two facts can not be combined into one and whether they can not be perceived, anyhow, as one.

The Jain philosophy is non-absolutist not only in the ontology but also in the theory of truth. The specific truth has its own characteristics and they are not the parts of the generic truth. They have their own existence like atoms. Sangativāda

and Anekaātṛvāda differ on this very point that truth is not one but manyfolded, Being non-absolutist the Jain philosophy cannot reach upto the absolute truth. It seems to be believing that the whole truth is only the combination of several truths in parts and not to be believing in its collective form.

On the analysis of the above passage the following four objections may be raised.

- (i) How to establish harmony or unity among different viewpoints that are intended to describe a single entity.³
- (ii) Whether the two contradictory views can not be perceived unitedly into a single entity.⁴
- (iii) How the Jain philosophy is non-absolutist not only in the field of ontology but also in the theory of truth.⁵
- (iv) The Jain-philosophy being non-absolutist can not reach up to the truth.⁶

The answers of these objections have been given by Acharya Shri Mahaprajna in a very logical way. He points out that the Jain philosophy does not accept the existence of origination-cessation and persistence separately. Truth does not have two (different) forms. Persistent, original and cessational existence of an entity is true. The purport is that neither difference nor identity is true but difference-cum-identity is true. Substance does not exist without modification and vice-versa. The entity having substance-cum-modification is true, therefore, identity having difference is true and difference having identity is also true. In nutshell it can be said that identity-cum-difference is true.

There is no division of perfect or imperfect so far as the theory of truth is concerned. This division is caused by the method the subject is treated.⁷ The truth is indivisible, substance can not be separated from cessation and origination and vice-versa. From the point of view that there is no uniformity in the endless dharmas, an entity is probably divisible too. Due to this very reason an entity becomes the subject of articulation and description. This is the relative truth and is the non-absolute truth. This truth removes the contradictions which are formed by the appearance of various contradictory modes in the Single entity.

The Jain philosophy is as pluralistic as it is monistic. Acharya ji makes it clear that the Jainology is not exclusively monistic or pluralistic as the vedānta is pluralistic in practice and identical in philosophy.

According to the Jainlogy both monism and plurality are real.⁸ Existence comprising endless dharmas in itself is true. This is the unity of truth. Such truths are endless having this independent existence and are not the parts of any universal truth.

The Jainasâ view regarding single entity is compared to vedantic view regarding the universe. In other words it can be said that the Jain philosophy is monistic regarding a single entity as the vedânta regarding the universe. Endless dharmas can be categorised into one or two substances but they can not be combined into one. From the point of view of existence (being) whole universe is one and from the point of view of from (becoming) it has got two forms viz. conscious being and unconscious being.⁹ It is certain that although there is no personal unity in the endless entities yet there is uniformity having the specific and generic qualities. There is found a uniformity having the quality of consciousness in numerous conscious beings and uniformity having the quality of unconsciousness in numerous unconscious beings. From the objective point of view both the conscious being and the unconscious being are one and the same. An entity is not absolutely different from the other nor is it absolutely the same. Since it is not the same, an entity gets modified and since an entity is not absolutely different, it gets a monistic existence.

From the universal point of views of its generic qualities an entity is non-absolute and from the point of views of its specific qualities an entity is absolute. Unity and plurality in an entity are proved automatically or an entity is synthetic so it has always lasted and will always last. The supposition that unity in an entity is real and plurality is not real and vice-versa, never can be true.

Acharya ji quotes the famous aphorism of scripture Acharange that one who knows one knows all and one who knows all knows one.¹⁰ This literally supports the philosophy of monism (अद्वैत) but this Advaita is considered from the point of view of the quality of प्रमेयत्व or ज्ञेयत्व. To support his viewpoint Acharya ji quotes another aphorism —

“एकोभावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथातेन दृष्टाः ।
सर्वभावाः, सर्वथायेन दृष्टाः एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥”

In this context he refutes the philosophy of Advaita because it accepts the existence of only one and not of many.¹¹ We can conclude briefly -

- (i) persistence can not be separated from origination and cessation, and vice-versa because every moment a person is undergoing changes but his identity remains the same.¹²
- (ii) Two contradictory dharmas exist together without any contradiction just as consciousness and unconsciousness exist together.¹³
- (iii) There is no division of perfect and imperfect so far as the theory of truth is concerned. It depends upon our treatment of the subject.¹⁴
- (iv) According to Jain philosophy no substance is without cessation and origination. In this sense it is non-absolute but so far as the theory of truth is concerned it approaches the absolute truth.¹⁵

The acceptance of the existence of own and denial of the existence of others only is the objectivity of an object. This acceptance and denial exist in the same object.¹⁶ An object never can get its real form without denying the absence of existence of some other object and accepting the existence of its own. While expounding the nature of the object, it is necessary to apply several alternatives.¹⁷

In this way Acharyaji answers the objections raised by many scholars and thinkers from time to time and also tells us about the applied form of Anekāntvāda. The Anekānta view presents a coherent picture of the philosophies, pointing out the important truths in each of them. It looks at the problem from various points of view.¹⁸ We are passing through a period of such quick changes that without taking the help of the doctrine of anekant we can not properly adjust ourselves with the modern society because it suggests us to solve the problems not only according to our views but according to the views of others also.

References:

1. जैन दर्शन मनन और मीमांसा, आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चूरु, सन् 1995, पृष्ठ 340-41
2. पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, डॉ. नन्दकिशोर देवराज
3. विभिन्न दृष्टिकोण अथवा विभिन्न अपेक्षाओं से किये गये एक पदार्थ के विभिन्न वर्णनों में सामञ्जस्य या किसी प्रकार की एकता कैसे की जाय यह जैन दर्शन नहीं बताता-जैन दर्शन मनन और मीमांसा पृष्ठ 340

4. क्या दोनों सत्त्यों को किसी प्रकार एक करके नहीं देखा जा सकता? जैन दर्शन मनन और मीमांसा, पृ. 340
5. तत्त्वमीमांसा में ही नहीं, सत्यमीमांसा में भी जैन दर्शन अनेकान्तवादी है- वही पृ. 340
6. अनेक सत्यवादी होने के कारण ही जैन दर्शन सापेक्ष सत्त्यों से निरपेक्ष सत्य तक पहुंचने का रास्ता नहीं बना पाता। वही पृ. 340
7. सत्य की मीमांसा में पूर्ण या अपूर्ण यह भेद नहीं होता, यह भेद हमारी प्रतिपादन पद्धति का है- वही पृ. 341
8. जैन दृष्टि के अनुसार एकतः और अनेकता दोनों वास्तविक हैं- वहीं, पृ. 341
9. अस्तित्व (है) की दृष्टि में समूचा विश्व एक और स्वरूप की दृष्टि से समूचा विश्व दो (चेतन, अचेतन) रूप है। जैन दर्शन मनन और मीमांसा पृ. 341
10. आचाराङ्ग 3/74
11. भेदाभेदौ च तत्रापि दिसन जैनो जयत्यलम् ।
रूपान्तरात् पृथग्रूपेऽप्यभेदो भुवि संभवेत् — द्रव्यानुयोग तर्कवग 4/7
12. बलत्वे मनुजो योभूत्तारुण्ये सोऽन्य इष्यते ।
देवदत्ततयाऽप्येको ह्यविरोधेन निश्चयम् ॥ द्रव्यानुयोगतर्कणा 4/5
13. सर्वत्राप्यविरोधेन धर्मो द्वावेक संश्रयै ... द्रव्यानुयोगतर्कणा 4/2
14. यस्य भेदोऽभेदोऽपि रूपान्तरमुपेयुषः ।
एवं रूपान्तरोत्पन्नभेदाच्छतनयोदयः ॥ — द्रव्यानुयोगतर्कणा 3/8
15. द्रव्यार्थिकनयो मुख्यवृत्त्याभेदयदास्त्रिसु ।
अन्योन्यमुपचारेण तेषुभेदं दिशत्यलम्— वही 3/2
16. स्वपरसत्ताव्युदासोपादानापायं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्— जैन दर्शन मनन और मीमांसा, (उद्धृत है) पृ. 351
17. वस्तु में 'स्व' की सत्ता की भांति 'पर' की असत्ता नहीं हो तो उसका स्वरूप ही नहीं बन सकता। वस्तु के स्वरूप का प्रतिपादन करते समय अनेक विकल्प करने आवश्यक हैं वही पृ. 351
18. 'Jain view of Life' T.G. Kalaghatagi, Jain Sanskriti Samrakshana Sangh, Solapur- 1969 page 12.

Assistant Co-ordinator
Department of Distance Education
Jain Vishwa Bharati Institute
LADNUN- 341306 (Raj)

Anekānta: Its Relevance to the Modern Times

— Dr. Anil Dhar

Religion & philosophy have been with us (mankind) since times immemorial. This world has had different religion & philosophies, during the course of development. Religion gives ethics, morality, and philosophy together with logic and reasoning. In India, we have seen the rise and development of Vedic, Jain & Buddhist religions and their allied philosophies, in a complementary co-existing state of simultaneous existence. Indian schools of philosophy are broadly divided into two schools of thoughts: (i) Vedic & (ii) Non-Vedic.

Vedic Philosophy is further divided into six schools viz. (a) Sāṃkhya (b) Yoga (c) Nyāya (d) Vaiśeṣika (e) Mīmāṃsā & (f) Vedānta, and three non-vedic philosophies are Jain, Buddha and Cārvāka. All have their own characteristics. Similarly Jain philosophy has its own speciality i. e. Anekānta.

Historical Background

Prior to Bhagavan Mahavira, it was a period of philosophic disputes. Sometimes it would touch illogical limits. Jain scriptures¹ & Buddhists scriptures² put the number of religions schools prevalent at that stage of time at 363 & 63 respectively.

Jain traditions have divided these 363 schools of Philosophy into four broad classes, i. e.

1. (Kriyāvādi)- Action-oriented—who considered the soul to be the doer of actions and enjoyed its good and/or bad results.

2. (Akriyāvādi)- Non-Action-oriented- who considered the soul as non-doer of action.
3. (Ajñānavādi)- Ignorance-oriented- who believed that knowledge brings in disputes in its wake æ so not to go in for theoretical/philosophical discussions & considered ignorance to be bliss.
4. (Viṇayavādi)- who would pay more attention to good moral behaviour.³

In this period of theoretical confusion, two great persons came on the scene-Bhagavan Mahavira & Mahatma Buddha. Gautam Buddha was in favour of foregoing debates & discussions as a solution to rise above fanatic & fundamentalist perceptions. But this way the human curiosity would not be satisfied, whereas the man of the period was in search of an acceptable explanation of the mystery of life & death, the universe & all else. In fact the man wanted to know the truth- the enlightenment, as it may be called, amongst all the existing āismsā, because all the schools at that time were busy in trying to cut down each other & judged each other''s wisdom accordingly.

Bhagwan Mahavira put forward a broad vision and an all embracing philosophy. He said that any fundamentalism and fanaticism, or considering one school as the only and final truth cannot be true.⁴ It is laid down in Sūtrakṛtāṅga that to praise ones belief and degrading the other's faith leads that absolutistic person (Ekāntavādi) to the continuous and unending circle of life and death. Bhagvan Mahavira has said that insisting on a single faith and belief as the only true faith and belief is the biggest hindrance in the path of the search for truth.⁵ A fixation of belief is attachment and where there is attachment, the whole truth cannot be seen. Whole truth can be seen only by a detached person - A person with attachment even if he is able to see the truth, contaminates the truth, because of his attached vision. The defect of believing in singleness of his own faith makes the vision untrue, and if that fixation be absent, the same truth will be visible to him as truth. One cannot arrive at truth, by disowning others truth, simply because they are other people's truth. Truth cannot be approached through disputes.⁶

Philosophic Background

Anekāntavāda is basic to structure of Jain metaphysics. It seeks to reorient our logical attitude and asks us to accept the unification of contradictions as the true measure of reality. It is easy to unlock the

mystery of the paradoxical reality. The law of Anekānta affirms that there is no opposition between the unity of being and plurality of aspects. The identity of a real is not contradicted by the possession of varying attributes. No one can deny that light, for instance, produces multiple effects, viz., the expulsion of darkness, the illumination of the field of perception, radiation of heat and energy and so on. If a plurality of the energies can be possessed by a self-identical entity without offence to logic, why should the spectre of logical incompatibility be raised in the case of a permanent course possessing diverse powers. The law of Anekānta affirms the possibility of diverse and even contradictory attributes in a unitary entity. A thing is neither an absolute unity nor a split-up into irreconcilable plurality. A thing is one and many at the time a unity and plurality rolled into one.⁷ Anekāntavāda also asserts that there is no contradiction between identity and otherness, as they are not absolute characteristics. The contradiction would be insurmountable if the two opposites were affirmed to be identical in an absolute reference. But the identity and otherness asserted by the law of Anekānta are only partial and limited, and not complete and unqualified.

Thus Anekāntavāda æ non-absolutism is the law of the multiple nature of reality. It corrects the partiality of philosophers of supplementing the other side of reality which escaped them. Non-absolutism pleads for soberness and insists that the nature of reality is to be determined in conformity with the evidence of experience undeterred by the considerations of abstract logic. Loyalty to experience and to fundamental concept of philosophy alike make the conclusion inevitable that absolutism is to be surrendered. A thing is neither eternal nor non-eternal, neither permanent nor perishable in the absolute sense but partakes of both the characteristics, and this does not mean any offence to the canons of logic.⁸ Complete knowledge has always been a complicated problem for man, with his limitation of capacities. Trying to know ācompleteā with incomplete tools, can never proceed beyond the incomplete truth. And, when this incomplete truth is given the place and credence of the whole truth that gives rise to disputes and struggles. Truth is not only what we know as truth. It is one whole indivisible all-prevailing knowledge. It cannot be measured by the instruments of logic, thinking, wisdom or language.⁹ Devāgama Aṣṭasati Kārika, elucidates that truth of false-hood, permanency or temporariness, are the different facets of the same truth, and so the truth it self having many facets is called Anekānta. The doctrine of Anekāntavāda or the manifoldness of

truth is a form of realism which not only assert a plurality of determinate truths but also takes each truth to be an indetermination of alternative truths.

The differences in the views regarding the nature of reality presented by different schools of thought are based on their basic outlook of and their approaches of looking at reality. Some take the synthetic point of view and present the picture of reality in a synthetic sense. They seek unity and diversity, and posit that the reality is one. It includes the consciousness and the unconsciousness as aspects of reality. Some other schools of thought look at reality from the empirical point of view. They seek to emphasize diversity as presented in the universe. Reality, for them, is not one nor a unity, but it is many and diverse. Some other schools of thought have said that reality is incomprehensible. In this way, there is intellectual chaos in the study of the metaphysical problems.

Anekāntavāda seeks to find out a solution out of this intellectual chaos. It seeks to find meaning in the diversity of opinions and tries to establish that these diverse views are neither completely false nor completely true. They present partial truths from different points of view. The Anekānta seeks to determine the extent of reality, present different schools of thought and gives a synoptic picture of reality. The eminent Ācāryas, like Samantabhadra, Siddhasena, Akalaṅka and Haribhadra have presented the subtle logical distinctions and the metaphysical thought involving unity and diversity, the oneness and duality and other forms of philosophy on the basis of Anekānta.¹⁰ A comprehensive picture of reality is sought to be presented by the theory of Anekānta.

The theory of Anekānta has become foundational for Jaina thought. In fact, the Anekānta outlook is the basis for other schools of Indian thoughts as well. The Jaina Ācāryas have presented a synoptic outlook in understanding the problems of philosophy on the basis of Anekānta. They say that Ekānta or dogmatism or one-sided approach to the problems of reality is not inherent in reality (vastugatadharmā), but it is due to working of the intellect. It is the product of intellectual discrimination. If the intellect is pure in its essence then Ekānta will disappear. The pure exercise of intellect will give rise to a synoptic view-point expressed in the Anekānta and the different partial view-points get merged in the Anekānta, just as the different rivers get merged in the sea. Upādhyāya Yaśovijaya says that one who has developed the Anekānta outlook does not dislike other view-points. He looks at other view-points

with understanding and sympathy just as a father looks at the activities of his son. One who believes in the Anekānta outlook, looks at the conflicting and diverse theories of realities with equal respect. He does not look at the diverse theories of realities as one superior to the other. He has the spirit of equanimity in approaching for the understanding of the problems of other theories. In the absence of the spirit of equanimity, all knowledge would be fruitless, and any amount of reading the sacred texts would not lead to any fruitful results.¹¹ Haribhadra Sūri says, that one who develops the Ekānta attitude and insists on his point of view is one-sided in his approach. But the one who develops the synoptic outlook based on the Anekānta attitude is always guided by objective and rational considerations in evaluating the theories of reality. Anekānta states that the nature of reality should be considered and studied purely from the rational point of view while Ekānta attitude is compelling and it drives us to accept its point of view and discourages us to accept the others point of view.¹² A milk-maid churns the butter milk, and while churning the buttermilk, she pulls the string on one side and loosens the string on the other. The consequence is the butter extracted from the buttermilk. Similarly, if we look at the different points of view of knowing reality in their proper perspective, considering the primary points of view as important and the secondary points of view with their due consideration, truth can be understood in the true perspective and in a comprehensive way. The intellectual confusion is created by Ekānta while the welter of confusion is cleared by Anekānta. The synoptic outlook of Anekānta gives a comprehensive and true picture of reality.

The Philosophic Impact of Anekānta

Some of the systems of Indian thought have expressed their opposition to Anekānta. Yet their theories do not disregard the Anekānta theory, as it is rational and objective in its outlook. In the Īsāvāsya Upaniṣad Atman has been described as a substance which moves and does not move, which is near and far, which is inside and outside. This is the expression of the Anekānta point of view.¹³ Śaṅkarācārya and Rāmānujācārya have argued against the validity of Anekāntavāda on the ground that contradictory attributes cannot co-exist at the same time. But in trying to refute the validity of Anekāntavāda they seem to have adopted the Anekānta outlook only. The description of the Brahman as “para and apara” and the analysis of the degrees of reality as expressed in the pāramārthika, vyavahārika and pratibhāṣika satya, does express the spirit of Anekānta. Śaṅkara mentions that there is nothing in the

world which is purely without faults and without attributes 'iṣṭam kimapi loke asmin na nirdoṣam na nirguṇam.'¹⁴ This would mean that everything has its good qualities and also its faults. Nothing is purely perfect and purely attribute-less. This is the expression of the Anekānta. The Sāṃkhya conception of prakṛti as having the three attributes of sattva, rajas and tamas in the state of equilibrium in the original state of prakṛti and as expressed in varied degrees in the process of evolution express the spirit of Anekānta. The Buddhist conception of the Vibhajjavāda and Madhyama mārga express the Anekānta spirit.

When we turn to Western philosophy, instances of the ideas similar to the doctrine of Anekāntavāda can be multiplied. In Greek Philosophy, first of all, in trying to solve the riddle of permanence and change, Empedocles, the Atomists and Anaxagoras declared that absolute change is impossible. So far the Eleatics are right. But, at the same time we see things growing and changing. Thus, stating that 'the original bits of reality cannot be created or destroyed or change their nature, but they can change their relation in respect to each other' they concluded in favour of relative change. When we read the Dialogues of Plato, we find that every thing which we originally suppose to be one is described as many and under many names and when we speak of something, we speak not of something opposed to being, but only different.¹⁵

The first modern philosopher, Hegel expounded that contradiction is the root of all life and movement, that everything is contradiction, that the principle of contradiction rules the world. To do a thing justice, we must tell the whole truth about it, predicate all the contradictions of it, and show how they are reconciled and preserved.¹⁶ Bradley has also described similar ideas. According to him everything is essential and everything worthless in comparison with others. Nowhere is there even a single fact so fragmentary and so poor that there is truth in every idea however false, there is reality in every existence however slight.¹⁷ Joachim expresses the same idea when he says that no judgement is true in itself and by itself. Every judgement as a piece of concrete thinking is infirmed, conditioned to some extent, constituted by the appreciative character of the mind.¹⁸ Such and similar ideas are expressed by Prof. Perry,¹⁹ William James,²⁰ John Caird,²¹ Joseph,²² Edmond Holmes²³ and many others.

Modern Science and Anekānta

Anekānta means, accepting all possibilities. Modern scientists have given it to mean-possibility and have confirmed it through their

researches. Science has proved that matter which apparently looks in a solid and stable state is in effect composed of ever in movement particles. In fact, not only in movement, but ever changing also. Even the scientist of today does not claim to have unravelled all the mysteries of universe and matter. Albert Einstein²⁴ has said that we can only know the relative truth æ the absolute truth can be seen and known to only complete visionary. So we find that under both disciplines, scientific or philosophic, an average man is not capable of knowing the absolute truth. That is what Anekānta teaches us that, even the apparently opposing facts can be the parts of the same truth.

What Mahavira²⁵ found by the process of intuition and reasoning, Einstein proved in his physical theory of 'space and time' in the year 1905 A.D. Development of optics and Electrodynamics led to the rejection of the concept of absolute time, absolute simultaneity and absolute space. If time and space are relative to other factors, everything that happens in time and space would naturally be relative to other factors. Therefore, Einstein was convinced that there is causal interdependence of all processes in nature. As a result, the revelations made by him and other theories of Quantum Mechanics, the field of relativity was enlarged, so as to take into consideration the fact that Reality is much dependent upon the subjective reaction of the individual who observes the event.

Jaina theory of relativity in the field of thoughts and metaphysics thus gets sufficient support from these scientific revelations in the field of physics. Theocrats World over have tried to emphasize that the truth revealed to them is absolute, eternal and immutable. Theory of relativity as embodied in Syādvāda or Anekāntavāda is happily an exception to this. Lenin²⁵ unknowingly endorsed this theory when he said : ãHuman though by its nature is capable of giving, and does give, absolute truth, which is compounded of sum total of relative truths. Each step in the development of science adds new grains of absolute truth, but the limits of the truth of each scientific proposition are relative, now expanding, now shrinking with the growth of knowledge. ã If only Lenin knew how to apply this principle in the evolution of social and economic theories propounded by Marx, the fate of socialism would have been quite different today.

Relevance of Anekānta

Anekānta purifies the thinking. It invites to do away evil thoughts and to cultivate good thoughts. It says that matter has no limitation. Because of matter differential, it has various contraqualities and all those

characteristics are relative to each other and are contained in the same matter without any contraindications. The importance of this comprehensive synthesis of Anekānta in day to day life is immense in as much as these doctrines supply a reational unification and synthesis of the manifold and rejects these assertions of bare absolutes.

Mr. Stephen Hay,²⁶ an American Scholar-historian, refers to Mahatma Gandhi's view about the Jaina theory of Anekānta as 'It has been my experience, wrote Gandhi in 1926. āthat, I am always true (correct) from my point of view, and often wrong from the point of view of my critics. I know that we are both (myself and my critics) right from our respective points of veiw'. He further quotes Gandhijis saying as under:

'I very much like this doctrine of the manyness of reality. It is this doctrine that has taught me to judge a Mussulman from his standpoint and a Christian from his ... From the platform of the Jainas, I prove the non-creative aspect of God, and from that of Ramanuja the creative aspect. As a matter of fact we are all thinking of the unthinkable, describing the indescribable, seeking to know the unknown, and that is why our speech falters, is inadequate and been often contradictory.'

History of all conflicts and confrontations in the world is the history of intolerance born out of ignorance. Difficulty with the man is his egocentric existence. Anekānta tries to make the man conscious of his limitation by pointing to his narrow vision and limited knowledge of the manifold aspects of things, and asks him not to be hasty in forming absolute judgements before examining various other aspects both positive and negative. Obviously, much of the bloodshed, and much of tribulations of mankind would have been saved if the man had shown the wisdom of understanding the contrary view points.

Anekānta and Ahimsā

More important aspects of Anekāntavāda is, however, the subtlety with which it introduce the practice of Ahimsā (non-violence) even in the realm of thought. The moment one begins to consider the angle from which a contrary viewpoint is put forward, one begins to develop tolerance, which is the basic requirement of the practice of 'Ahimsā''. Origin of all bloody war fought on the surface of this earth can be traced to the war of ideas and beliefs. Anekāntvāda puts a healing touch at the root of human psyche and tries to stop the war of bloodshed. It makes all absolutes in the field of the thought quite irrelevant and naive imparts

maturity to the thought process and supplies flexibility and originality to human mind. If the mankind will properly understand and adopt this doctrine of Anekāntvāda, it will realize that real revolution was not the French or the Russian; the real revolution was the one which taught the man to develop his power of understanding from all possible aspects and can successfully apply this technique in various fields of life, viz., family, politics and religion for peaceful resolution of the conflicts.

Application of Anekānta in Family Life

Family is an important unit in social set up. Anekānta can be useful in sorting out family feuds. Its utility is in creating peaceful atmosphere between family to family and between the various members of same family. Usually there are two centres of family dispute. Between father and son and between mother and daughter-in-law. The underlying cause of dispute is the difference in view point. The father wants to mould his sons life in the value system he has been brought in, because he thinks that he has experience, where as the son has logic on his side. Similar is the condition between mother and daughter-in-law. In addition the daughter-in-law has the drag of the value system of her parental home excluded in her psyche. She also wants to live a life as free and without restraints, as she had in her parental home, against which her in law home expects certain restraints from her. All this leads to conflict unless there is a feeling of tolerance and understanding on both sides.

Tolerance means control on ones emotions. He or she who has that control will be powerful of to have an effective control, in exercise of tolerance is essential. To tolerate other view point and not to insist on the acceptance of one's own view point only is the basic requirement needed such as:

- (i) controlling our excessive emotions,
- (ii) understanding view point of others.
- (iii) Not to dwell to much on self ego only.

An important factor of non-violence in family life is adjustment. It is possible to reconcile different ideas and interests. For this, training in the philosophy of Anekānta can prove very useful. Anekānta recognises freedom, but not freedom divorced from the all relationship and interdependence. Co-existence is recognised, but not co-existence which excludes the power to forestall injustice. Equality is recognised, but not equality which takes no account of differing capabilities of various individuals. The foundation pillar of peace should not be so weak as to

tumble down at the first whiff of variety in talent. In the philosophy of Anekānta, difference (of capacity) are not inadmissible, provided one also acknowledges the common identity of mankind. The consciousness of identity and that of dissimilarity together marks a new step towards the creation of a non-violent society.²⁷

Anekānta in Religious Field

Anekānta can be utilized beneficially in the field of religious tolerance also, to create communal Harmony which is the real secularism. Different teachers of different religions developed different methods all around the world, during different periods of time. But due to previous mental build up and psyche, towards their teachers and their own egos compelled the followers of new āismā, to consider their new faith, and belief as the last and final and complete truth, which resulted in the unneeded communal enmity between different sects. History is the witness that this religious intolerance has been the cause of unlimited cruelty and bloodsheds. Below mentioned are some reasons creating and developing communal outlook, religious intolerance and narrow mindedness : (1) jealousy (2) desire of fame (3) so called ideological differences (4) difference in perception of behaviour pattern (5) humiliation or degradation inflicted by some previous sect or person.²⁸

Anekānta does not advocate unification of all sects by destroying or amalgamating them all, because in view of different levels of human perceptions and mental development the existence of different thinking and different religions is unavoidable. Anekant is an efforts to organise all in complete fairness and total unison, with each other, without encroaching on any one. But to achieve it, religious tolerance and a feeling of Sarvadharmā Samabhāva is a basic requirement.

Anekānta in Political Field

Today's political world also is full of narrow mindedness in thinking. There being so many social & political systems existing simultaneously, such as capitalism, socialism, communism, fascism etc. as well as monarchy, democracy, Autocracy, dictatorship etc. Not only are they existing side by side, they are also trying to destroy each other. Nations of the world are divided into various camps and every camp has its own leader, nation, which tries to spread its own sphere of influence.

In present day political world, there are two qualities of Anekānta, which can be useful viz., tolerance and co-operation, in theory and in

practice. Mankind has travelled a long way in politics from monarchy to democracy and its savings is in owing the Anekānta and to know one's shortcoming, by being tolerant to the criticism of your opponents and learning thereby. And to remove those short comings, is the need of the hour. This is practicing Anekānta. There can be elements of truth in what your opponent says and the best place to find your short commings is, in the sayings of your opponent. Acknowledging it is in the best interest of democracy. Parliamentary democracy is practically Anekānt in politics. India is not only father of Anekānta in politics but is also a symphatiser in parliamentry democracy æ so that responsibility of using Anekānta practically rests fully on indian political leaders.

Conclusion

The theoretical side of Anekānta coupled with the derivatives from scientific experimentation, makes us accept the principle of co-existence, as also does it accept this (Anekānta) as the vary basis of life. This realization can establish the principles of co-operation, co-existence, tolerance, communal non-differentiation etc. etc. To win over the thinking of die hards the utility of Anekānta is self apparent, so that it can end the attitude of all knowingness and develop the attitude of learning from any source, with equal openmindedness.

Reference :

1. Sūtrakṛtāṅg tīkā, 1/2, 1/12
2. Dharamanand Kaushambhi, Gautam Budh, p.67
3. Saubhagymal Sagarmal Jain, Anekānt kī Jīvan Dṛṣṭi, p.6
4. Saubhagymal Sagarmal Jain, Anekānt kī Jīvan Dṛṣṭi, p.9
5. Sūtrakṛtāṅga tīkā, 1/2/2/23
6. Saubhagymal Sagarmal Jain, Anekānt kī Jīvan Dṛṣṭi, p. 8
7. Jethalal S. Zaveri, Microcosmology : Atom in the Jain philosophy and Modern Science.
8. Jethalal S. Zaveri, Microcosmology : Atom in the Jain Philosophy and Modern Science
9. Saubhagymal Sagarmal Jain, Anekānt kī Jīvan Dṛṣṭi, p. 9
10. Devendra Muni Shastri, A source Book in Jaina Philosophy, p. 242
11. Yasovijaya, Jñānasāra
12. Devendra Muni Shastri, a source book in Jaina Philosophy, p. 243
13. Īṣāvāsyaopaniṣad
14. Dialogues of Plato, vol. IV pp 361, 386
15. Thilly, History of Philosophy. p. 465
16. Bradley, Appearance and reality, p. 487
17. Joachim, Nature of Truth, Ch III, pp 92-93

18. Perry, Present philosophical Tendencies, Chapter on realism
19. William James, The principles of Psychology, Vol. I Ch. xxi, p. 291
20. John Caird, An Introduction to Philosophy of Religion, p. 219
21. Joseph, Introduction to logic, pp 172-173
22. Edmond Holms, In the Quest of Ideal, p. 21
23. Jaina influences on Gandhis Early Thought, an article published in the path of Arhat by T.U. Mehta, p. 140
24. D.P. Gribanov. Einsteins Philosophical Worldview, quoted in Einstein and the philosophical problems of 20th century physics, p. 30
25. Collected works of Lenin, Vol. 14, P 135
26. T.U. Mehta, The Path of Arhat : A Religious Democracy p. 142
27. Acharya Mahaprajna. Democracy : Social Revolution through Individual Transformation, p. 87
28. Saubhagymal Sagarmal Jain, Anekānt kī Jīvan Dr̥ṣṭi, p. 25.

Asstt. Professor
Non-Violence and Peace Studies
Jain Vishva Bharati Institute
Ladnun 341 306 (Raj.)



यःक्याद्वादी वचनसमये योप्यनेकान्तदृष्टिः
 श्रद्धाकाले चरणविषये यश्च चात्रिनिष्ठः ।
 ज्ञानी ध्यानी प्रवचनपटुः कर्मयोगी तपस्वी,
 नानारूपो भवतु शरणं वर्धमानो जिनेन्द्रः ॥

जो बोलने के समय स्याद्वादी, श्रद्धाकाल में अनेकान्तदर्शी, आचरण की भूमिका में चरित्रनिष्ठ, प्रवृत्तिकाल में ज्ञानी, निवृत्तिकाल में ध्यानी, बाह्य के प्रति कर्मयोगी और अन्तर् के प्रति तपस्वी है, वह नानारूपधर भगवान् वर्द्धमान मेरे लिए शरण हो।



हार्दिक शुभकामनाओं सहित—

एम.जी. सरावगी फाउण्डेशन

(महादेव लाल गंगादेवी सरावगी फाउण्डेशन)

41/1 सी, झावुतल्ला रोड़, कोलकता- 700 019